ॐ तत्सत्

जनक और याज्ञवल्क्य

श्रीमान् प० कोकिलेश्वर भट्टाचार्य एम० ए०

के " उपनिषद्के उपदेश " से

सङ्कलित और अनुवादित

जिसको-

मुरादाबाद निवासी महोपदेशक

सारस्वत (अष्टवंश) प० कन्हैयालाल

तन्त्रवैद्यने सम्पादित किया

और

कु० कु० रामस्वरूप शर्मा ने

" सनातनधर्म प्रेस " मुरादाबादमें

छापकर प्रकाशित किया

१९२०

॥ श्रीहरिः ॥

जनक और याज्ञवल्क्य

प्रथम–दिन

महाराज जनक एक दिन सभामें सिंहासन पर बैठे हुए थे, उसी समय उनसे मिलने को महर्षि याज्ञवल्क्य जी आगये। उस समय याज्ञवल्क्य सब ब्रह्मज्ञानियोंमें ऊपर गिने जाते थे और महाराज जनक धन जन राज्य सम्पदासे सम्पन्न होकर भी संसारमें निर्लिप्त ब्रह्मज्ञानी मानेजाते थे। जनकके प्रधान ज्ञानगुरु याज्ञवल्क्य ही थे। उनसे ही राजर्षि जनकने पूर्ण ज्ञान पाया था। याज्ञवल्क्यजीको देखते ही महाराज जनक सिंहासन परसे उठकर खड़े होगये और महर्षिका बड़े आदरके साथ स्वागत किया। तदनन्तर ब्रह्मविचारकी चर्चा छिड़ गयी।

महर्षि याज्ञवल्क्यने प्रेमपूर्वक पूछा, कि–राजन् ! आपने अनेकों आचार्योंसे जो ब्रह्मके विषयका उपदेश पाया है उसको मैं सुनना चाहता हूं? जनकने विनयके साथ उत्तर दिया, कि–शिलिनके पुत्र महात्मा जित्वाने बताया था, कि–वाणी ही ब्रह्म है। जो मनुष्य वाक्यका उच्चारण नहीं करसकता बोलना नहीं जानता, वह पशुतुल्य है वाक्य ही आत्माका उत्तम चिह्न है. इसलिये वाक्यको ही ब्रह्म मानना चाहिये। इस पर याज्ञवल्क्यने कहा, कि–राजन् ! जित्वाने जो आपको उपदेश दिया था, उसमें वाक्यका आश्रय

और मूलकारण भी अवश्य ही बताया होगा, उसको मैं सुनना चाहता हूं? राजाने कहा-उन्होंने इस विषय में कुछ नहीं कहा था, भगवन्! आप ही कृपा करके इस तत्त्वको समझा दीजिये? याज्ञवल्क्यने कहा-महाराज! यद्यपि गुण वा उपाधिके भेदसे विकाशकी न्यूनाधिकताके अनुसार ब्रह्मका भेदसा प्रतीत होता है, परन्तु स्वरूपतः ब्रह्ममें कोई भेद नहीं है, ब्रह्म निरन्तर एकरूप है। वाक्यका देवता अग्नि है। आध्यात्मिक राज्यमें प्रत्येकव्यक्तिमें जो अलग२ वाक्शक्ति है,आधिदैविक राज्यमें वही अग्निशक्ति है,अग्नि ही प्राणियोंके शरीरोंमें वाणीरूपसे प्रकट होरहा है,इस वाणी (वाक्य) का आश्रय वाक् इन्द्रिय हैं और इस वाक्य का मूल कारण अव्याकृत बीजशक्ति है। इस वाक्शक्तिको प्रज्ञा (ज्ञानकी एक अवस्था) मानकर उपासना करनी चाहिये परन्तु यह ब्रह्मका केवल एक पाद है राजाने कहा भगवन्! आप प्रज्ञा किसको कहते हैं? वाक्य प्रज्ञा कैसे हो सकता है? याज्ञवल्क्यने कहा राजन्! यह वाक्य ही प्रज्ञा है, वाक्यके द्वारा ही हम भाईको जानते हैं और वेद, उपनिषद्, पुराण, इतिहास आदि सब वाक्यके द्वारा ही जानेजाते हैं। यज्ञ, होम, अन्न दान आदि धर्म वाक्यके द्वारा ही कियाजासकता है, इसलिये वाक्य ज्ञानस्वरूप है, वाक्य ही ब्रह्म है। इस भावसे जो वाक्यका व्यवहार करते हैं वे शरीरपातके अनन्तर देवलोकमें देवपद पाते हैं। याज्ञवल्क्यके इस उपदेशके मर्मको समझकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ और उनको एक सहस्र गौएँ देनेलगा, परंतु याज्ञवल्क्यने कहा कि-मैं ब्रह्मविद्याका पूरा २ उपदेश दिये विना कुछ नहीं ले सकता।

महर्षि याज्ञवल्क्यने राजासे फिर बूझा, कि-महाराज ! और किसी आचार्यने आपको जो उपदेश दिया हो वह भी सुनाओ। राजाने कहा, कि-शुल्वके पुत्र उदङ्कने मुझे उपदेश दिया था, कि-प्राण ही ब्रह्म है, क्योंकि-प्राणशून्य पुरुष पुरुष ही नहीं होसकता।

प्राण वा क्रियाएंही आत्माके चिन्ह हैं,इसलिये शरीर की चेष्टाओं (क्रियाओं)को ही ब्रह्म जानो। याज्ञवल्क्य ने बूझा, कि-राजन् ! इस प्राणब्रह्मके आश्रय या मूलकारणको भी तुम जानते हो या नहीं ? राजाने कहा-मैं नहीं जानता, कृपा करके आप ही बतला दीजिये। महर्षिने कहा, कि गुण वा उपाधिके भेदसे विकाशकी न्यूनाधिकताके अनुसार भले ही ब्रह्ममें भेद प्रतीत हो, परन्तु वास्तवमें ब्रह्मके स्वरूपमें भेद नहीं है। प्राणशक्ति ही शरीरकी क्रियाओंका आश्रय है, इस प्राणशक्तिका देवता वायु है। आध्यात्मिकभावमें प्रत्येक व्यक्तिमें जो प्राणशक्ति है वही समष्टिरूपमें वायु शक्ति है, वह वायु ही प्राणियोंके शरीरोंमें प्राणरूपसे प्रकट हो रहा है, इस प्राणका मूल कारण अव्याकृत बीज-शक्ति है, इस प्राणशक्तिको प्रिय मान कर उपासना करनी चाहिये. परन्तु यह ब्रह्मका एक पादमात्र है। जब शरीरकी क्रियाशक्ति ही प्राणशक्ति है तो यह सबको प्रिय अवश्य ही है। प्रिय न हो सुख न मिले तो कोई किसी क्रिया को न करे। प्राण सबको प्यारा है। इस प्राणके ही लिये लोग क्रियाएं करते हैं। शेर चोर आदिका भय होतेहुए भी लोग प्राणके सुखार्थ भयानक स्थानोंमें चलेजाते हैं. इसलिये प्राणशक्तिको प्रिय मान कर उपासना करे। जो इस भावसे प्राणब्रह्मकी उपासना करते हैं वे शरीरपात

के पीछे देवलोकमें देवपद पाते हैं। इस तत्वको सुन प्रसन्न होकर राजाने सहस्र गौएं देना चाहा, परन्तु महर्षिने कहा, कि—मैं ब्रह्मविद्याका २ पूरा उपदेश दिये बिना नहीं ले सकता।

याज्ञवल्क्यने फिर कहा, कि—राजन्! अन्य आचार्य से जो और उपदेश पाया हो वह-भी सुनाओ? राजा ने कहा-भगवन्! वृष्णके पुत्र वर्कुने उपदेश दिया था कि-चक्षु ही ब्रह्म है, चक्षु ही आत्माका परिचय देनेवाला चिह्न है, चक्षुको ही ब्रह्म मानना चाहिये। याज्ञवल्क्यने कहा कि—चक्षुके आश्रय और मूल कारणको भी जानते हो या नहीं? राजाने कहा—मैं नहीं जानता. आप ही कृपा करके बतला दीजिये। याज्ञवल्क्यजीने कहा, कि-गुण वा उपाधिके भेदसे विकाशकी न्यूनाधिकताके अनुसार ब्रह्ममें भले ही भेद प्रतीत हो, परन्तु स्वरूपतः उसमें कोई भेद नहीं है. वह निरन्तर एकरूप है। चक्षु का आश्रय दर्शनेन्द्रिय है, सूर्य दर्शनेन्द्रिय का देवता है। आधिदैविक राज्यमें जो समष्टिरूपसे सूर्य है वही आध्यात्मिकराज्यमें प्रत्येक व्यक्तिमें दर्शनेन्द्रिय है। यह सूर्यज्योति ही प्राणियोंके शरीरोंमें तैजस चक्षुरूप से प्रकट हो रही है, इस चक्षु इन्द्रियका मूल कारण अव्याकृत बीज शक्ति है। इस चक्षुको सत्य मान कर उपासना करनी चाहिये, परन्तु यह ब्रह्मका एक पाद-मात्र है। राजाने-बूझा, कि--भगवन्! आप चक्षु किसको कहते हैं और चक्षु सत्य कैसे हो सकता है? याज्ञवल्क्यने कहा, कि—जब कोई चक्षुसे किसी पदार्थ को देखता है तब उसको वह सत्य समझ कर लेलेता

है, अतः चक्षुको सत्य कहा जा सकता है। जो इस भाव से चक्षु ब्रह्मकी उपासना करते हैं वे देहान्त होने पर देवलोकमें देवपद पाते हैं। इस तत्त्वको सुनकर प्रसन्न हुए राजाने महर्षिको सहस्र गौएं देना चाहा, परन्तु उन्होंने कहा, कि—मैं ब्रह्मविद्याका पूरा २ उपदेश दिये बिना नहीं ले सकता।

याज्ञवल्क्यजीने फिर कहा, कि-राजन्! और किसी आचार्यने जो कुछ उपदेश दिया हो वह भी सुनाओ? राजाने उत्तर दिया, कि—विदर्भी विपीत आचार्यने कहा था, कि—श्रवणशक्ति ही ब्रह्म है, श्रवणक्रिया आत्माका परिचय देनेवाला एक चिन्ह है अतः इसको ही ब्रह्म मानना चाहिये। याज्ञवल्क्यने कहा, कि-क्या तुम इस श्रवणक्रियाके आधार या मूलकारणको भी जानते हो? राजाने कहा-नहीं, आप ही कृपा करके बता दीजिये। महर्षिने कहा, कि—राजन्! गुण या उपाधिके भेदसे विकाशकी न्यूनाधिकताके अनुसार ब्रह्म में भले ही भेद प्रतीत हो, परन्तु वास्तवमें ब्रह्ममें भेद नहीं है, वह निरन्तर एकरूप है। इस श्रवणशक्तिका आश्रय श्रवणेन्द्रिय है और इसका देवता आकाश है। आध्यात्मिकभावसे प्रत्येक व्यक्तिमें जिसको श्रवण शक्ति कहते हैं वह आधिदैविक भावमें समष्टिरूपसे दिशा वा आकाश है। दिशा वा आकाशीय उपादान ही प्राणियोंके शरीरमें श्रवणशक्ति रूपसे प्रकट हो रहा है। अव्यक्त बीजशक्ति ही इस श्रवणशक्तिका मूल कारण है। परन्तु यह श्रवणशक्ति ब्रह्मका एक पाद मात्र है। इसकी अनन्त रूपसे भावना करनी चाहिये, क्यों कि-चाहे जिस दिशामेंको चलेजाओ अन्त नहीं मिलेगा

इस भावसे जो आत्मब्रह्मकी उपासना करते हैं वे शरीर-पात होने पर देवलोकमें देवपद पाते हैं। इस तत्त्वको सुन कर प्रसन्न हुए राजा जनकने महर्षि याज्ञवल्क्यको सहस्र गौएं देना चाहा, परन्तु उन्होंने कहा, कि—मैं ब्रह्मविद्याका पूरा २ उपदेश दिये बिना नहीं ले सकता।

याज्ञवल्क्यने फिर कहा, कि-राजन्! आपने किसी अन्य आचार्यसे और कुछ उपदेश पाया हो तो वह भी सुनाइये? राजाने कहा, कि-जबालाके पुत्र सत्यकामने उपदेश दिया था, कि-मन ही ब्रह्म है, क्योंकि मनशून्य पुरुष पुरुष ही नहीं होता, मनःशक्ति आत्माका परिचय देती है। महर्षिने बूझा कि-इस मनके मूलकारणको भी जानते हो या नहीं? राजाने कहा-मैं नहीं जानता आप ही कृपा करके बता दीजिये, तब याज्ञवल्क्यने कहा कि राजन्! ब्रह्म स्वरूपसे भेदशून्य है, केवल गुण वा उपाधिके भेदसे विकाशकी न्यूनाधिकताके अनुसार ब्रह्म में भेद मानलिया जाता है, वास्तवमें ब्रह्म निरन्तर एक-रूप है। इस मनका देवता चन्द्रज्योति है। आध्यात्मिक भावसे प्रत्येकव्यक्तिमें जो मनःशक्ति है वही आधिदैविक भावमें समष्टिरूपसे चन्द्रज्योति है। तैजस चन्द्रमा ही प्राणियोंके शरीरोंमें मनःशक्तिरूपसे प्रकट होरहा है, अव्याकृत बीजशक्ति इसका मूलकारण है। यह ब्रह्म है सही, परन्तु ब्रह्मका एक पादमात्र है। इस मनकी आनंद-रूपसे भावना करनी चाहिये, क्योंकि-मनसे ही लोग संसारमें सुन्दरी और सुशीला स्त्रीके लिये लालायित होते हैं और अपने अनुरूप प्यारे पुत्रको पाकर आन-न्दित होते हैं। जो इस मनको इस भावसे ब्रह्म मान कर भावना करते हैं वे देहान्त होने पर देवलोकमें देव-

पद पाते हैं। राजा फिर याज्ञवल्क्यजीको सहस्र गौएं देनेलगा, परन्तु उन्होंने इस बार भी स्वीकार नहीं किया और फिर कहने लगे, कि-राजन्! किसी और गुरुसे कुछ उपदेश पाया हो तो सुनाओ? राजाने उत्तर दिया कि—शाकल्यवंशी विदग्धने एक दिन मुझसे कहा था, कि-हृदय या बुद्धि ही ब्रह्म है, क्योंकि-बुद्धि शक्तिहीन पुरुष पशु समान है। याज्ञवल्क्यने कहा, कि-क्या तुम हृदयके आश्रय और मूलकारणको भी जानते हो? राजाने कहा मैं नहीं जानता, कृपा कर आप ही बतादीजिये महर्षिने कहा कि—उपाधिके भेदसे विकाशकी न्यूनाधिकताके अनुसार भले ही ब्रह्ममें भेद प्रतीत हो, वास्तव में कोई भेद नहीं है, ब्रह्म निरन्तर एकरूप है। हृदय ही बुद्धिका आश्रय है, अव्याकृत, बीजशक्तिमूल कारण है। स्थिति या आयतन नामसे बुद्धिकी भावना करे, क्योंकि हृदयमें ही सब भूतोंका आश्रय है, हृदय ही नाम रूप और कर्मकी भूमि है। सबका आधार हृदय ही ब्रह्म है। जो ऐसे विचारसे हृदय ब्रह्मकी उपासना करते हैं वे मरणके अनन्तर देवपद पाते हैं। ज्ञानात्मक और क्रियात्मक अनेकों उपाधियोंमें (ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों में) उस एक ही ब्रह्मकी भावना करते २ साधक क्रमसे सब उपाधियोंसे परे और सब उपाधियोंके कारणरूप शुद्ध ब्रह्मकी धारणा करनेका अधिकारी होजाता है। ऐसे २ उपदेशोंको सुनकर महाराज जनक बड़े प्रसन्न हुए और इनका मनन करनेलगे।

यह जगत् परिणामशील है--प्रतिक्षणमें इसका लौट-बदल हुआ करता है जगत्‌में के हर एक पदार्थ सदा जन्म,

मरण, वृद्धि, क्षय आदि अवस्थाओंके अधीन रहते हैं। यह जगत् कार्य समष्टि मात्र है, इसलिये इसका कोई न कोई परिणामी उपादान होना चाहिये, जो परिणाम पाकर सकल नाम रूपवाले पदार्थोंमें फैल गया है, इस परिणामी उपादानको श्रुतिने प्राणशक्ति नामसे बताया है। श्रीशङ्कराचार्यने गौड़पादकारिकाके भाष्यमें कहा है 'सर्वभावानामुत्पत्तेः प्राक् प्राणबीजात्मनैव सत्त्वम्'। आनन्दगिरिने इसका अर्थ यों किया है 'तदेवचेतनं सर्वं जगत् प्रागुत्पत्तेर्बीजात्मना स्थितं प्राणः' सब अचेतन जगत् अपनी उत्पत्तिसे पहले प्राण नामक बीजरूपसे स्थित था। इस प्राणशक्तिको ही यहां अव्याकृत बीज शक्ति कहा है, इस शक्तिका अधिष्ठान ब्रह्मचैतन्य है। ब्रह्म चैतन्य ही ज्ञाता द्रष्टा और यह शक्ति ही उसका ज्ञेय दृश्य है, वह विषयी है यह विषय है, वह पुरुष है यह प्रकृति है। इस शक्तिके द्वारा ही ब्रह्म जगत्का कारण सिद्ध होता है, नहीं तो ब्रह्म कार्य और कारण दोनोंसे परे शुद्ध उपाधिशून्य है। यह परिणामी कारण बीज ही अनेकों कार्योंके आकारसे प्रकट होता है। इन कार्य कारणोंका जो अधिष्ठान है, जिस अधिष्ठानमें यह कारणशक्ति कार्यरूपसे परिणामको पारही है वह अविकारी नित्य एक रूप है। यह प्राणशक्ति ब्रह्मकी ही शक्ति है। ब्रह्मके बिना इसकी स्वतन्त्र सत्ता वा क्रिया नहीं है। ब्रह्म इस शक्तिसे स्वतन्त्र है, परन्तु इस शक्तिकी स्वतन्त्रता कभी नहीं रहती। यह ब्रह्मशक्तिकी ही आत्मभूत ब्रह्म है। इस शक्तिसे संवलित ब्रह्म ही कारण ब्रह्म कहाता है। इस शक्तिका अधिष्ठान जो शक्तिसे स्वतन्त्र है, वह न सत् है, न असत् है, न कारण है।

कार्यरूपसे अनेक होती हुई भी वह बीजशक्तिकारण

रूपसे एक और ज्ञानस्वरूप ब्रह्ममें अधिष्ठित है, यही बात इस आख्यायिकाने दिखायी है। इस प्राणशक्ति को ही पञ्चभूतात्मक कहा है। यह प्राणशक्ति आकाशीय और वायवीय सूक्ष्म अवस्थासे क्रमशः संहत होकर जल और पृथिवीके आकारमें स्थूलरूपसे प्रकट हुई है। इस संहत अवस्थाको पानेमें तेज सहायक है, तेजकी सहायतासे ही परिणाम होकर स्थूलता आती है, अतः प्रत्येक स्थूल पदार्थ इस एक प्राणशक्तिकी ही अवस्था-विशेष है। सूर्य चन्द्रमा, अग्नि, दिशा आदि आधिदैविक पदार्थोंमें वायवीय, आकाशीय और तैजस अवस्था प्रधान है। प्राणीके शरीरकी इन्द्रियोंमें भी इस ही उपादानकी प्रधानता है, इसलिये ही श्रुतिने कहा है, कि-आधिदैविक पदार्थ ही आध्यात्मिक रूपमें उत्पन्न होगये हैं। श्रुति आकाशीय और वायवीय उपादानको कारण रूप और तैजस, जलीय तथा पार्थिव उपादान को कार्य-रूप कहती है अतः हरएक पदार्थ कारणात्मक और कार्यात्मक है।

इस आख्यायिकामें एक बात और विचारनेकी है-यहाँ अन्य इन्द्रियोंको छोड़कर केवल श्रवणेन्द्रिय और दर्शनेन्द्रियकी ही चर्चा क्यों उठायी है ? यह विश्व नाम-रूप-कर्मात्मक है। जो कुछ भी देखनेमें आता है उस सबमें ही नाम रूप और क्रिया है। कोई भी नाम (शब्द) हो उसका आश्रय श्रवणेन्द्रिय ही है, हरएक शब्दको हम श्रवण (कान) से ही ग्रहण करते हैं, ऐसे ही श्वेत कृष्ण आदि रूपोंका आश्रय एक दर्शनेन्द्रिय ही है, हम सब रूपोंको चक्षुसे ही ग्रहण करते हैं एवं सब क्रियाएं प्राणीके शरीरमें ही प्रकट होती हैं। देखना,

मनन करना, चलना आदि सब क्रियाएं शरीरके ही आश्रयसे प्रकट होती हैं, अतः इस आख्यायिकामें चक्षु श्रोत्र और शरीरकी ही चर्चा उठायी गयी है। नाम और रूपका साधारण आश्रय अन्तःकरण (मन और बुद्धि) है और चलनरूप क्रियामात्रका साधारण आश्रय जीवका प्राण है, इसलिये ही अन्तःकरण और प्राणकी चर्चा कीगयी है। नाम, रूप और क्रिया परस्पर एक दूसरेके आश्रित हैं, एक दूसरेको छोड़कर रह ही नहीं सकते। रूपवाले विषयके आश्रयसे ही नाम और क्रिया का प्रकाश होता है। चक्षु श्रोत्र आदि सब ही इन्द्रियें क्रियात्मक हैं। विषयका संयोग होते ही वे विषय अपनी २ इन्द्रियकी क्रियाको उभार देते हैं, तब अंत करणकी प्रति क्रिया होने लगती है। इस क्रिया और प्रतिक्रियासे ही विषयका प्रत्यक्ष होता है। इसलिये नाम और रूपका आश्रय अन्तःकरण भी क्रियात्मक होकर सब क्रियाओंकी मूल प्राणशक्तिके ही आश्रित है। दर्शन आदि भांति २के विज्ञानोंका साधारण आश्रय अन्तःकरण (विज्ञानशक्ति) है। यह विज्ञानशक्ति और प्राणशक्ति एक ही है, क्योंकि-प्राणशक्ति प्राणियों के देहोंमें पहले प्रकट होकर यदि चक्षु कर्ण आदिको न रचदेती तो भाँति २ के विज्ञान प्रकट ही न होनेपाते। इसलिये यह आख्यायिका बताती है, कि-शरीरके भीतर और बाहर सर्वत्र एक प्राणशक्तिका ही पसारा है और वही ज्ञानकी प्रकटताका कारण है।

दूसरा दिन।

दूसरे दिन प्रदोषकालमें महर्षि याज्ञवल्क्य सायङ्काल

के नित्यकर्मसे निवट कर विदेह जनकसे कहनेलगे, कि-राजन् ! जैसे दूर देशको जाना चाहेवाला मनुष्य रथ या जहाजकी सवारीका प्रबन्ध करके जाता है, ऐसे ही आपने भी ब्रह्म-विज्ञानको पानेके लिये आवश्यक सामग्रीका संग्रह करलिया है। आपका जन्म धनी और प्रतिष्ठित वंशमें हुआ है। आत्मज्ञानको पानेकी इच्छा से योग्य महात्माओंके मुखसे विधिपूर्वक ब्रह्मके विषय की बातें सुनकर उनको हृदयमें धारण किया है और ब्रह्मविद्याके भण्डार उपनिषदोंको पढ़ा है,इसलिये आप तत्त्वज्ञानके पूरे अधिकारी हैं। सुयोग्य पात्र जानकर मैं आपसे एक प्रश्न करता हूं, कहिये महाराज ! इस जड़ शरीरको छोड़ने पर आप किस लोकमें जायँगे ? यदि आपको यह तत्त्व मालूम नहीं है तो मैं आपको सुनाता हूँ, सावधान होकर सुनिये—

राजन् ! जीवात्मा जाग्रत् अवस्थामें नाक कान इंद्रियों की सहायतासे बाहरके विषयोंको पाता है, उस समय सब विषयोंका प्रकाश होता है, इसलिये यह इन्द्रियोंका अधिष्ठाता चैतन्य पुरुष 'इन्ध' नामसे पुकारा जाता है, क्योंकि—उस समय विषय इन्धमान (प्रकाशित) होते रहते हैं, परन्तु संसार इस आत्माको इन्ध न कह कर, परोक्षरूपमें इन्द्र नामसे व्यवहार करता है, परन्तु यह 'इन्द्र' नाम आत्माका गौण है। इन्द्रियें उसका परिचय देनेवाले चिन्ह हैं, इसीसे उसका नाम इन्द्र है अथवा "इदं पश्यति—इस विषयको प्रत्यक्ष करता है" इस व्युत्पत्तिको लेकर भी आत्माको 'इन्ध' कह सकते हैं। तात्पर्य यह है कि-जागनेकी दशामें आत्मा इन्द्रियों

के द्वारा विषयोंको पाता है, इसकारण उस अवस्थामें आत्माका मुख्य निरुपाधिक स्वरूप प्रकाशित नहीं होता किन्तु उस समय बाहरी इन्द्रियोंरूप उपाधिके द्वारा आत्मा भासित होता है, अतः यह आत्माका गौण (स्थूल) स्वरूप है। इस अवस्थामें सब ही स्थूल विषय आत्माका भोग्य और पोषक होता है।

जीव जब स्वप्न देखता है, उस समय इसका सूक्ष्म रूप भासित होता है। स्वप्न अवस्थामें स्थूल विषय नहीं रहता। जागतेमें अनुभव किये हुए सब स्थूल विषयोंके संस्कार सूक्ष्मरूप (वासना या स्मृतिरूप) से मनमें भरे रहते हैं, वे ही सब स्वप्नके समय आत्मामें काम किया करते हैं, परन्तु यह भी आत्माका मुख्य निरुपाधिक स्वरूप नहीं है। अन्तःकरणके योगसे विषयोंका संस्कारमय सूक्ष्म अनुभव होनेके कारणसे यह भी आत्माका गौणस्वरूप है। अन्तःकरणरूप उपाधिके संयोगसे इस अवस्थामें आत्माको तैजस कहते हैं, इस समय सूक्ष्म संस्काररूप विषय आत्माका भोग्य वा पोषक होता है। हम जो कुछ भी खाते या पीते हैं वह जठराग्निसे पक कर दो प्रकारकी अवस्थामें आता है। एक स्थूल और दूसरी उसकी अपेक्षा सूक्ष्म। स्थूल भाग मल मूत्र आदि बन कर बाहर निकल जाता है और सूक्ष्म भाग जठराग्निसे दूसरे रूपमें आकर दो तरहका रस बनजाता है, कुछ एक स्थूल (गाढ़ा) रस वीर्य रुधिर आदि रूपसे शरीरको पुष्ट करता है और दूसरा रस अत्यन्त सूक्ष्म होता है वह लोहितपिण्ड रूपसे हृदयमें से फैलीहुई अतिसूक्ष्म हिता नामकी नाड़ियोंमें होकर बहताहुआ सूक्ष्म शरीरको पुष्ट करता है. सूक्ष्म शरीरका

भोज्य (खुराक) होनेसे यह सूक्ष्म शरीरके अधिष्ठाता आत्माका भी पोषक होता है। हृदयमेंसे बालसे भी अतिसूक्ष्म सहस्रों नसोंका जाल निकल कर सब शरीर में व्याप्त होरहा है, इसमेंको ही यह लोहितपिण्ड कहता है। सूक्ष्म शरीर सूक्ष्मविज्ञानशक्ति और प्राणशक्तिसे गठित होता है। इसमें ही विषयोंके संस्कार रहते हैं, अतः इस सूक्ष्म-देहरूप उपाधिके भोगसे आत्माके ज्ञान और क्रियाका निर्वाह होता है, अतः स्वप्नावस्था भी आत्माके मुख्य स्वरूपको प्रकाशित नहीं करती। यह सूक्ष्म शरीर ही आत्माके मुख्य स्वरूपको ढके रहता है। उस समय यद्यपि स्थूल विषय और इन्द्रियें विश्राम लेती हैं, परन्तु अन्तःकरणमें उनके संस्कार जागते रहते हैं। उनसे ही जीव स्वप्न देखता है, उनसे ही वासनामय सब विषयोंका प्रत्यक्ष करता है।

इन दो अवस्थाओंके सिवाय जीवकी सुषुप्ति नामकी एक तीसरी अवस्था भी है। इस अवस्थामें जीव किसी प्रकारके विषयका दर्शन नहीं करता है यह जीवकी गाढ़ निद्रावस्था है। इसमें जीवको बाहर या भीतरका कुछ बोध नहीं होता है और न किसी प्रकारकी वासना ही रहती है। इस अवस्थामें अन्तःकरणकी सब वृत्तियें अर्थात् रूप आदिका ज्ञान और उनकी स्मृतियें विलीन होकर प्राणशक्तिमें छुपी रहती हैं, परंतु यह भी आत्मा का मुख्य निरुपाधिक स्वरूप नहीं है। इस समय सब विज्ञान सब वासनायें प्राणशक्तिमें बीजरूपसे छुपी रहती हैं। यह प्राणशक्ति नामक बीजरूप उपाधि गूढ़ रहती है, इसलिये ही जीव निद्राभङ्ग होनेपर सकल वासनाओं और कामनाओंको लेकर फिर उठ बैठता है।

अतः यह भी आत्माका गौण ही रूप है। इसमें आत्मा प्राणके साथ एकीभूत होता है, अतः पण्डित लोग इस समय आत्माको प्राज्ञ नामसे पुकारते हैं। इस अवस्थामें जीवका सब ही विशेषज्ञान अन्तर्धान होजाता है। सुषुप्ति अवस्थावाले मनुष्यके शरीरमें क्रिया होती देखते हैं, इससे निश्चय होता है, कि-सुषुप्तिमें प्राणशक्तिका ध्वंस नहीं होता। इस प्राणशक्तिके साथ आत्मा एक होकर स्थित होता है और विज्ञानशक्ति भी इसमें ही विलीन रहती है और जागने पर फिर विषयका संयोग होकर ये कारणावस्थाको त्याग भांति२ के ज्ञान और क्रियाओं के आकारमें जाग उठते हैं। इस बीजरूप या शक्तिरूप उपाधिका संबन्ध रहनेके कारण इस अवस्थामें भी आत्माका मुख्य उपाधिशून्य स्वरूप प्रकाशित नहीं होता।

हे राजन्! आत्माका जो मुख्य स्वरूप है वह सबप्रकार उपाधिसे रहित है, ऊपर कहीहुई अवस्था तीनों अवस्था-ओंसे रहित है। इन अवस्थाओंके साक्षी का पता लगाने के लिये "यह ब्रह्म नहीं है, यह ब्रह्म नहीं है" यह भाव करना पड़ता है। जब आत्मस्वरूपका अनुभव होजाता है तब पता लगता है, कि-आत्मा किसी उपाधिसे प्रका-शित नहीं होता, न ग्रहण ही किया जा सकता है। आत्माका ध्वस कोई नहीं कर सकता, आत्मा असङ्ग है, बँधता नहीं है और भय क्लेशसे विलग है। महाराज! आत्माके इस स्वरूपको समझ लेने पर आप भी इस स्थूल शरीरको त्यागने पर ऐसे ही निर्भय होजायँगे।

राजा जनक महर्षि याज्ञवल्क्यके इस ज्ञानगम्भीर उपदेशको सुनकर कृतार्थ होगये और ऋषिके चरणोंमें गिर कर अपना धन जन आदि सर्वस्व अर्पण करने लगे

जीवात्मा और परमात्माके स्वरूपमें कोई भेद नहीं है। यद्यपि संसारदशामें आत्मा हर्षशोकसम्पन्न क्लेश-तापपीड़ित और संसाररूप फांसोमें बँधाहुआसा प्रतीत होता है, परन्तु वास्तवमें आत्मा विषयोंसे विलग है। जीवकी जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओंको हम नित्य ही देखते हैं। इन अवस्थाओं पर ध्यान दे कर विचार करनेसे आत्माके वास्तविक स्वरूपका निश्चय किया जा सकता है, इस ही अभिप्रायसे उपनिषदोंमें जहां तहां इन तीनों अवस्थाओंका वर्णन किया है, अतः हम भी यहां इस विषयमें कुछ आलोचना करना उचित समझते हैं। जाग्रत् अवस्था ही जीवकी संसार-अवस्था कहलाती है, इस अवस्थामें इन्द्रियोंके सामने विश्वका परदा उघड़ा रहता है और शब्द स्पर्श रूप रस आदि के साथ संबन्ध होनेके कारण आत्मा इन स्थूल विषयों को लेकर क्रीड़ा किया करता है, आत्मा विषयों से सर्वथा ढका हुआ और सर्वथा विषयोंके वशीभूत रहता है। ये स्थूल विषय इन्द्रियोंके मार्गमें क्रियाको खड़ी करके आत्मामें कितने ही अनुभवोंको उत्पन्न कर देते हैं, इस ही रीतिसे विषयका प्रत्यक्ष होता है, परन्तु इन अवस्थाओंमें भी आत्मा विषयोंसे विलग रहता है यह बात अवश्य ही समझ में आजाती है। देखो-इन्द्रियके सामने एक विषय आजाने पर इन्द्रियमें क्रिया होने लगती है, उससे ही इन्द्रियोंकी भिन्न २ क्रियाएँ जागजाती हैं। इन विशेष २ क्रियाओंमें जबतक मनका संयोग नहीं होता, तबतक यह कुछ भी समझमें नहीं आता, कि-ये कहाँसे आगयीं किसकी क्रियाएं हैं और इनका अनुभव

कहाँ होता है। मनका संयोग होने पर समझमें आता है, कि-विषयने हमारे बाहर रहकर हममें भाँति २ के कितने ही अनुभवोंको उत्पन्न कर दिया है, तदनन्तर आत्मा बुद्धिके द्वारा इन अनुभवोंकी सदृशता और विसदृशताका विचार करता है, इस विचारको दर्शन-शास्त्रमें आलोचना कहते हैं।

इस आलोचनासे समझमें आता है, कि-आत्मा इन अनुभवोंसे जुदा है। इससे प्रतीत होता है, कि-जो आत्मा विचारशक्तियोंके द्वारा अनुभवोंको अपना अनुरूप करलेता है वह अवश्य ही अनुभवोंसे जुदा पदार्थ है, जिसमें सदा विषयोंका अनुभव उपजा करता है वह आत्मा नित्य, विकारशून्य तथा एकरूप है और अनुभव सदा बदल २ कर अन्यरूप धारण किया करते हैं। इस तत्त्वको जाग्रत् अवस्थामें अच्छी तरह समझ सकते हैं, स्वप्नावस्थामें भी इस तत्त्वको समझ सकते हैं। स्वप्न अवस्थामें स्थूल विषय नहीं रहते, केवल अन्तःकरण पहले पायेहुए रूप रसादिके संस्कारोंके साथ क्रीड़ा करता रहता है। जाग्रत् अवस्थामें इनका जो देशकालमें बँधाहुआ स्थूल आकार था वह इस समय नहीं रहता। इस समय अनुभवोंने वासनारूप सूक्ष्म आकार धारण करलिया है, यद्यपि विषयोंने दूसरा रूप धरलिया है तथापि जिस आत्माने पहले जाग्रत् अवस्थामें विषयोंका स्थूल अनुभव पाया था, वही एक नित्य अविकारी आत्मा स्वप्नमें भी विषयोंका सूक्ष्म अनुभव ले रहा है. इसलिये शब्द स्पर्श आदिका रूपान्तर होने पर भी विषयी आत्माका कोई रूपान्तर नहीं होता। यही तत्त्व गाढ़निद्रा वा सुषुप्तिकालमें भी प्रमाणित होता है।

सुषुप्ति अवस्थामें शब्द स्पर्श आदिका आकार और ही भाँतिका होजाता है। स्वप्न देखनेके समय मन जिस शब्द स्पर्श आदिके संस्कारको लेकर व्यस्त था अब सुषुप्तिमें वह संस्कार भी मनसे हटगया, परन्तु वह नित्य अविकारी आत्मा जाग रहा है। जाग्रत् अवस्था में जिस आत्माने विषयका स्थूल अनुभव पाया था, स्वप्न देखनेके समय जिस आत्माने विषयोंके सूक्ष्म वासनारूप संस्कारोंके साथ क्रीडा की थी वही आत्मा इस सुषुप्तिका भी अनुभव करता है। इसलिये हम समझते हैं, कि-आत्मा निरन्तर एकरूप रहता है, कभी भी नहीं बदलता, परन्तु विषय नित्य ही अपना रूप बदला करते हैं। हरएक अवस्थामें नया २ शरीर धारण करके आत्माके पास आया करते हैं। विषयोंके रूप वा आकार एकसाथ अन्तर्धान होजाने पर भी आत्मामें कोई रूपान्तर वा न्यूनाधिकता नहीं होसकती, क्योंकि-आत्मा विषयका अनुभवकर्त्ता होकर भी विषयसे सर्वथा जुदा है,इसलिये ही अनुभवोंके बदलजानेपर भी आत्मा में परिवर्त्तन नहीं होता। अनुभव पानेसे पहले भी आत्मा था और अनुभवके पीछे भी वही आत्मा रहेगा। इसलिये श्रुतिने इन तीन अवस्थाओंके सिवाय आत्माकी एक तुरीयावस्था बतायी है, यही आत्माका उपाधिसे रहित मुख्य स्वरूप है। प्रकृतिके सब प्रकारके संबन्धसे शून्य यही आत्माकी स्वतंत्र अवस्था है। सुषुप्तिकालमें स्पर्श आदि और कामना वासना आदिके संस्कार गूढ़-भावसे शक्ति वा बीजरूपसे आत्मामें छुपे रहते हैं। जागने पर फिर यह बीजशक्ति ही विषयके संयोगसे जाग उठती है, अतः श्रुतिने प्रकृतिसे परेकी अवस्थाको

समझानेके लिये ही तुरीय स्वरूपका वर्णन किया है। तात्पर्य यह है, कि-विश्वके अभिव्यक्त होनेके लिये ब्रह्मकी जो कई शक्तियें मिलकर क्रिया करती हैं उन कइएक शक्तियोंकी समष्टिका नाम प्रकृति है, परन्तु ब्रह्म तो अनन्तशक्तिमान् है, इन कइएक शक्तियोंसे ही अनन्त ब्रह्मस्वरूपकी इयत्ता (नाप तोल) कैसे होसकती है ? इन कइएक शक्तियोंके द्वारा ब्रह्मका स्वरूप निःशेष-रूपसे कैसे प्रकाशित होसकता है ?

इसकारण ही महात्मा जीव गोस्वामीजीने ब्रह्मकी दो शक्तियें बतायी हैं-एक स्वरूपशक्ति और दूसरी प्रकृतिशक्ति। इस ही रहस्यको बतानेके लिये श्रुतिने 'तुरीय' स्वरूप वर्णन किया है। विश्वमें ब्रह्मका स्वरूप ही समष्टि और व्यष्टिभावसे प्रकाशित होरहा है। प्रत्येक पदार्थ समष्टि और व्यष्टिभावसे आत्माके स्वरूपको प्रकाशित करता है, परन्तु वह समष्टि और-व्यष्टि दोनों ही भावोंमें प्रत्येक पदार्थसे पृथक् है। कमल गुलाब मालती, वेला आदि प्रत्येक फूलमें उसकी ही सुन्दरता झलक रही है और समग्र पुष्पजातिमें भी उसके ही सौन्दर्यकी छटा है। व्यष्टिभावमें गुलाबको तो चाहे कमलको या मालतीको तो कोई भी उसकी अनन्त सुन्दरताकी इयत्ता (नाप-तोल) नहीं करसकता और समष्टिभावमें सारी पुष्पजाति भी उसके विशाल सौन्दर्यभण्डारकी थाह नहीं पासकती। इस महारहस्यको खोलनेके लिये ही उपनिषदोंमें तुरीय रूपका वर्णन किया है। जनक और याज्ञवल्क्यके इस दोनों दिनोंके संवादसे हमको नीचे लिखा उपदेश मिलता है—

(१)-ब्रह्म ज्ञानस्वरूप और शक्तिस्वरूप है। ज्ञानकी

ही क्रियोन्मुख अवस्थाको शक्ति कह सकते हैं। ब्रह्मकी कईएक शक्तियें जगत्की रचनामें लगी हुई हैं। इन शक्तियोंको ज्ञानस्वरूप ब्रह्मकी जगत्रचनाकी नियम-प्रणाली भी कह सकते हैं।

(२)-जिन शक्तियोंके विकाशसे जगत् निर्मित होकर चलता है, उन शक्तियोंने पहले सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, दिशा आदिके आकारमें और जगत्को रचा। इन ही सबके उपादानसे प्राणियोंके शरीरोंमें प्रकाशित होने वाली इन्द्रियशक्तियोंकी रचना हुई है। जो सूर्य चन्द्र आदिमें शक्तिरूपसे क्रिया कर रहा है, वही समय पाकर प्राणियोंके देहोंमें चक्षु कर्ण आदि-इन्द्रियशक्तिरूपसे प्रकट होजाता है, नहीं तो ये आवें ही कहाँसे ? इस ही तत्त्वको लेकर श्रुतिमें सूर्य अग्नि आदिको चक्षु वाक्य आदिका देवता या समष्टिरूप कहा है।

(३)-जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन जीवकी अवस्थायें हैं। विषय अवस्थाके साथ बराबर बदलते रहते हैं, जीवात्मामें उनका अनुभव हुआ करता है, परन्तु इन परिणाम पानेवाले अनुभवोंका जो अनुभव करनेवाला है, उसमें कोई लौट बदल नहीं होता, वह सदा एकरूप रहता है।

(४)-आत्मा चैतन्य और ब्रह्मस्वरूपसे एक है।

(५)-प्रकृतिरूपाशक्ति ब्रह्मस्वरूपकी इयत्ता नहीं कर सकती।

तीसरा दिन।

आज राजा जनकने महर्षि याज्ञवल्क्यजीसे बूझा, कि-महाराज! ये सब जीव कौनसे प्रकाशकी सहायता

से अपना २ काम करते हैं ? देह इन्द्रिय आदि कौनसे प्रकाशसे प्रकाशित होकर अपना २ काम करनेमें समर्थ होते हैं ? वह प्रकाश क्या देह इन्द्रियोंसे अलग बाहर है या इनके अन्तर्गत ही है, यह तत्त्व कृपा करके समझादीजिये ? महर्षि याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया, कि-राजन् ! सुनिये, हम आपको बताते हैं। इन देह इन्द्रियादिसे अलग सूर्यका प्रकाश ही चक्षु आदि इन्द्रियोंकी दर्शन आदि क्रियाओंके सहायक रूपसे वर्त्तमान है। सूर्यका प्रकाश ही देह इन्द्रिय आदिका परिचालक है। जीव सूर्यके प्रकाशमें ही काम कर सकते हैं।

यह सुनकर राजा जनकने कहा, कि-भगवन् ! सूर्यका प्रकाश तो सब समय नहीं रहता। जब सूर्य अस्त होजाता है तब जीव कौनसे प्रकाशकी सहायतासे काम करता है ? यदि कहो कि-सूर्यास्त होने पर चन्द्रमा रहता है, उसकी ही सहायतासे कार्यनिर्वाह होता है तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि-चन्द्रमा सब समय नहीं रहता, जब सूर्य चन्द्र दोनों नहीं होते उस अन्धेरी रातमें किस प्रकाशकी सहायतासे काम होता है ? याज्ञवल्क्यजीने उत्तर दिया, कि-राजन् ! उस समय जीव अग्निके प्रकाशकी सहायतासे काम कर सकता है और जब अग्नि भी शान्त होता है तब वाक्यरूप प्रकाशकी सहायतासे शरीर इन्द्रियादिकी क्रियाएँ होती हैं। शब्दसे श्रवणेन्द्रियके प्रदीप्त होजाने पर मन वस्तुका निश्चय कर सकता है, तदनन्तर उस मनसे बाहरकीचेष्टाका उद्रेक होता है, इसलिये सूर्य चन्द्र और अग्निकी अनुपस्थितिमें वाक्यरूप प्रकाशकी सहायतासे ही क्रिया होती रहती है। राजन् ! गाढान्धकारमें जब समीपकी

किसी वस्तुका भी भान नहीं होता, जब सूर्य, चन्द्र, अग्नि इन तीनोंकी ही ज्योति लुपजाती है तब केवल शब्दसे ही वस्तुका निश्चय होता है, इसलिये वाक्यरूप प्रकाशकी सहायतासे भी जीवका काम चलता है। दूसरी इन्द्रियें और उनके विषयोंकी भी यही दशा है। गन्ध आदिके द्वारा जब घ्राणेन्द्रिय आदि उद्बुद्ध होते हैं तब ही जीवकी क्रिया होती है। जब जीव जागता होता है तब विषयोंकी ओरको अभिमुख हुईं इन्द्रियें ही विषय के संयोगसे प्रबुद्ध होकर क्रिया करती हैं। उस ही समय सूर्य, अग्नि आदिका प्रकाश इन्द्रियोंका सहायक हुआ करता है, परन्तु जब जीव सोयाहुआ या सुषुप्तिमें होता है उस समय बाहरी विषय या बाहरी प्रकाशके न होने पर भी देह इन्द्रियादिसे जुदे किसी एक प्रकाशके द्वारा जीवके स्वप्न देखने और सुखशयनका निर्वाह होता है। स्वप्नकी अवस्थामें जब बाहरके शब्दादि विषय नहीं होते हैं और न बाहरकी इन्द्रियोंकी ही चेष्टा होती है उस स्वप्नमें भी जीव मित्रादिके साथ मिलना, बिछुड़ना एक नगरसे दूसरे नगरको जाना, हँसना, रोना, खाना, पीना, और खेलना आदि क्रियाओंको किया करता है तथा गाढ़निद्रा (सुषुप्ति) से उठ कर भी जीव अनुभव करता है, कि-आहा ! आज कैसी अच्छी आनन्दकी नींद आयी, कुछ खबर ही नहीं रही। इसलिये राजा जनक ! तुम विचार कर देखलो कि—वास्तवमें किस ज्योतिके प्रकाशमें जीवके देह इन्द्रियादिकी चेष्टा का काम चलता है। देह इन्द्रियें, शब्दादि विषय, सूर्य और चन्द्रमा आदिसे सर्वथा पृथक् और एक ज्योति है, जिसके

प्रकाशसे सब जीव जाग्रत् आदि अवस्थाओंमें अपनी २ क्रियां करते हैं । इस पूर्ण ज्योतिका ही नाम आत्मज्योति है, इसको ही आत्माका आलोक वा चैतन्यका प्रकाश कहते हैं । यह आत्मप्रकाश शरीर इन्द्रियादिसे सर्वथा जुदा है, इसके ही बलसे देह इन्द्रिय आदि कर्म कर सकते हैं । इस प्रकाशका चक्षु आदि इन्द्रियोंसे ग्रहण नहीं हो सकता, ये सूर्य आदि भी इस आत्मप्रकाशके ही बलसे अपनी २ क्रिया करते हैं । यह आत्मप्रकाश सब पदार्थोंसे जुदा रह कर सबका प्रकाशक और परिचालक है । यह भौतिक पदार्थोंसे अत्यन्त विलक्षण है ।

कुछ तार्किक इस स्वतन्त्र आत्मज्योतिको नहीं मानना चाहते और कहते हैं, कि—समान जातिका पदार्थ ही अपनी जातिके दूसरे पदार्थ पर क्रिया कर सकता है या उसका उपकार कर सकता है, इसलिये जो देह इन्द्रियादि का चालक या प्रकाशक होगा वह अवश्य ही इनकी समान जातिका होगा । वह देह इन्द्रियादिसे सर्वथा भिन्न पदार्थ नहीं हो सकता । उन का यह भी विचार है कि-उसको चक्षु आदि इन्द्रियें ग्रहण नहीं करसकतीं; इसलिये उसको विलक्षण पदार्थ मान लेना ठीक नहीं, क्योंकि-चक्षु आदि इन्द्रियें भी तो चक्षु आदिसे ग्रहण नहीं की जासकतीं, उनके द्वारा केवल रूप आदिका ही दर्शन होता है । ऐसी २ युक्तियोंके आधार पर ये तार्किक पुरुष इन्द्रियादिकी क्रिया करानेवाली ज्योतिको जड़शक्ति मान लेते हैं, परंतु राजन् ! विचार करने पर इन युक्तियोंमें कुछ भी सार नहीं दीखता, समान जातिका पदार्थ ही समानजाति वालेका उपकार करे यह कोई अटल नियम नहीं है ।

भिन्न जातिवालेसे भी उपकार होता देखते हैं, जैसे कि जलके द्वारा बिजलीसे सम्बन्ध रखने वाली वैद्युताग्नि का उपकार होता है और जलसे अग्निको बुझते हुए भी देखते हैं।

दूसरे तार्किक कहते हैं, कि—यह प्रकाश देनेवाली आत्मज्योति देहका ही धर्म है। इसको देहसे भिन्न स्वतन्त्र द्रष्टा सिद्ध करना बड़ा कठिन है। वे यह युक्ति दिखाते हैं, कि—जबतक देह रहता है तब तक ही चैतन्य रहता है, जब देह नहीं होता तब चैतन्य भी नहीं रहता, इस कारण चैतन्य देहका ही धर्म है और कुछ नहीं है। वे कहते हैं कि—यह शरीर ही दर्शन श्रवण आदि क्रियाएँ करता है, देहसे अलग और कोई द्रष्टा नहीं है। कभी दर्शन श्रवण आदि होता है और कभी नहीं होता, देहका यही स्वभाव है; कि—वह सर्वदा सब क्रियाएँ नहीं करता। राजन्! इन युक्तियोंमें कुछ भी सार नहीं है। विचार कर देखिये-यदि शरीर ही द्रष्टा हो,शरीरसे अलग कोई और द्रष्टा न माना जाय तो जिसकी दोनों आँखें नष्ट होगयी हों उसको स्वप्न दीखना ही नहीं चाहिये, क्योंकि-स्वप्नमें वही दीखता है जिस को पहले देखा है। यदि शरीरसे अलग कोई द्रष्टा नहीं है तो अन्धेने देहके अवयवरूप जिन आँखोंसे पहले देखा था, उनके नष्ट होजानेके कारण उसको पहली देखी हुई वस्तुओंका स्वप्न नहीं दीखना चाहिये, क्योंकि—जिनसे स्वप्न देखाजायगा वे आँखें तो रही ही नहीं, परन्तु स्वप्न फिर भी देखता है, इससे मानना पड़ेगा, कि—आँखोंसे अलग कोई और द्रष्टा है कि—जिसने पहले देखे हुएका स्वप्नमें स्मरण किया है। यदि देह ही द्रष्टा

हो तो देहके अवयव आँखोंको मूँद लेने पर पहले देखे हुए पदार्थका स्मरण नहीं होना चाहिये, क्योंकि-देहके अवयवों को जिन आंखोंने देखा था वे तो मुँद रही हैं, परंतु आंखें मूंद लेनेपर भी पहले देखेहुए पदार्थका स्मरण होता है, इसलिये देहसे अलग द्रष्टा (आत्मा) अवश्य मानना होगा, वही दर्शन और स्मरण करता है। इसके अतिरिक्त—यदि देहसे अलग कोई स्वतन्त्र द्रष्टा न हो तो मृत शरीरसे ही देखने सुनने आदिकी क्रिया होनी चाहिये, क्योंकि-शरीर तो चक्षु कर्ण आदि सहित विद्यमान ही है, परन्तु ऐसा होता नहीं, इससे निश्चय होता है, कि—शरीरमें जिस पदार्थके रहने पर दर्शन आदि क्रियाका निर्वाह होता है और न रहने पर नहीं होता वही देहसे अतिरिक्त स्वतंत्र द्रष्टा वा स्वतन्त्र आत्मज्योति है।

महाराज! इससे यही सिद्ध हुआ, कि-आत्मज्योति देह आदिसे अत्यन्त विलक्षण स्वतन्त्र पदार्थ है और यह आत्मज्योति इन्द्रियोंसे भी विलक्षण है, यह बात सहजमें ही सिद्ध की जा सकती है। यदि इन्द्रियें ही दर्शन आदि व्यापारकी कर्त्ता होतीं तो जिसने दर्शन किया उसने ही फिर स्पर्श किया ऐसा व्यवहार नहीं बनता, क्योंकि—एकका देखा वा अनुभव किया जो जो पदार्थ है उसका स्पर्श दूसरा कैसे करसकता है? इस लिये चक्षु आदि एक २ इन्द्रियको भी द्रष्टा नहीं कहा जासकता। ऐसे ही मन भी द्रष्टा नहीं हो सकता, क्योंकि—मन भी एक इन्द्रिय है और शब्द स्पर्श आदि की समान मन भी एक विषय मात्र है। आत्माके लिये मन अवश्य ही एक विषय वा दृश्य है, फिर वह विषयी

वा द्रष्टा कैसे हो सकता है ? द्रष्टा वा आत्मज्योति शरीर और इन्द्रियोंसे स्वतन्त्र भिन्न पदार्थ हैं, यह आत्मज्योति ही देह इन्द्रियादिकी प्रकाशक और क्रिया का निर्वाह करानेवाली है।

महाराज ! इस नित्य स्वतन्त्र आत्मप्रकाशके आधार पर ही देह आदिकी सब क्रियाएँ होती हैं। इस प्रकारसे प्रकाशित हो कर ही बुद्धि-शब्द, स्पर्श, भय, लज्जा आदि भांति२ के विज्ञानोंके आकारमें प्रकाशित होती है। इस ही प्रकाशसे प्रकाशित होकर प्राण, दर्शन आदि क्रियाएँ और रस रुधिर आदिका परिचालन करता है। यह आत्मज्योति बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय आदि सबसे सर्वथा स्वतन्त्र अथवा इन सबोंके भीतर है। यह आत्मज्योति न हो तो बुद्धि प्राण आदि कोई भी प्रकाशित या क्रियाशील नहीं हो सकता। बुद्धि इस आत्मा के अत्यन्त निकट होनेके कारण उसके प्रकाशसे प्रकाशित होकर विषयोंको प्रकाशित करती रहती है,इसलिये लोग बुद्धिको ही विज्ञानमय आत्मा कहने लगते हैं, परन्तु वास्तवमें बुद्धि आत्मा नहीं है,किंतु आत्माके ज्ञानप्रकाश का प्रधान द्वार है, इस बुद्धिके द्वारा ही आत्मा इन्द्रियों का प्रवर्त्तक और प्रकाशक होता है। जैसे प्रकाश (उजाला) हरे नीले लाल पीले आदि रङ्गोंका प्रकाशक होकर आप हरा नीला लाल पीला आदि वर्णवालासा दीखने लगता है, ऐसे ही आत्मा भी बुद्धिका प्रकाशक होकर बुद्धिके ही द्वारा ही शरीरको प्रकाशित करता रहता है, वास्तवमें यह आत्मज्योति बुद्धि आदि सबसे स्वतन्त्र है। हर्ष, शोक, लज्जा, भय आदि अन्तःकरण वा

बुद्धिके ही परिणाम हैं। शब्द स्पर्श आदि भाँति २ के विज्ञान भी विषयोंसे उपरञ्जित बुद्धिके ही परिणाम हैं आत्मज्योति इन सब परिणामोंसे स्वतन्त्र होकर भी इनके अनुगत होकर ही प्रकाशित होती है, क्योंकि— बुद्धि ही आत्माके ज्ञानप्रकाशका द्वार है, अतः अविवेकी पुरुष इस बुद्धिको ही आत्मा मानलेते हैं, उनके मतमें बुद्धि वा बुद्धिवृत्तिकी समष्टि ही आत्मा है और कोई आत्मा नहीं है। ऐसा माननेवाले विज्ञानवादी कहलाते हैं।

भगवान् शङ्कराचार्यने अपने भाष्यमें इस विज्ञानवाद का खण्डन किया है,उसको यहाँ दिखा देना अनुचित न होगा-विज्ञानवादी कहते हैं कि-हमारे मनोराज्यकी खोज कीजाय तो हम रूपज्ञान,शब्दज्ञान, स्पर्शज्ञान,क्रोधज्ञान और क्षुधाज्ञान आदि भाँति २ के विज्ञानोंके अतिरिक्त और कुछ नहीं पाते। इनको ही लेकर हमारा ज्ञानराज्य भरा रहता है, ये विशेषविज्ञान प्रतिक्षण उत्पन्न होते हैं और जलधाराकी समान प्रवाहरूपसे एकके पीछे दूसरा उसके पीछे तीसरा इसप्रकार आते हैं और चलेजाते हैं एक दूसरेके साथ अटूट संबन्धसे गुथेहुए दीखते हैं। इन विज्ञानोंके द्वारा ही हमारे ज्ञानराज्यका गठन होता है। इनके विना हमको ज्ञान होनेका और कोई मार्ग नहीं है। इन विज्ञानवादियोंमें दो प्रकारके तार्किक हैं-

(१)-एक कहते हैं, कि—हमारे भीतर प्रतिक्षणमें जो भाँति २ के ज्ञान विज्ञान उपस्थित होते हैं, वे अवश्य ही इन्द्रियोंकी और बुद्धिकी भाँति २ की क्रियाओंके फल हैं। इन्द्रियोंकी और बुद्धिकी क्रियाएं ही विज्ञान नामसे पुकारी जाती हैं। परन्तु बाहरसे यदि इन्द्रियोंके ऊपर कोई कुछ क्रिया उत्पन्न न करे तो कौन करे? अवश्य

ही हमें इन विज्ञानोंके जाननेका अधिकार है, परन्तु बाहरके उस कारणको जाननेका हमें कुछ अधिकार नहीं है हम उस कारणको केवल क्रियाका उत्पादक समझ सकते हैं और कुछ नहीं जान सकते। हम केवल क्रियाओं को जान सकते हैं,ये क्रियाएं ही भांतिर के विज्ञान हैं। ये विज्ञान निरन्तर हमारे भीतर रह कर क्रियाएं करते हैं। ये भीतरके विज्ञान ही बाहर वृक्ष, लता, शब्द, स्पर्श आदिके रूपमें स्थितसे प्रतीत होते हैं इन विज्ञानोंकी प्रकृति ऐसी ही हैं और हमारे ज्ञानकी अनिवार्य प्रकृति भी ऐसी ही है, कि-वे वास्तवमें वे भीतर हो हैं परन्तु बाहर भी स्थितसे प्रतीत होते हैं।

(२)-दूसरे तार्किक कहते हैं, कि-विज्ञानके सिवाय और कुछ है ही नहीं। यह जो प्रतीत होता है, कि-विज्ञान बाहर स्थित है यह भ्रममात्र है। विज्ञान सदा हमारे भीतर ही क्रिया करते हैं वे बाहर नहीं ठहर सकते। इन्द्रियोंकी और बुद्धिकी क्रियाओंके उत्पादक रूपसे जो बाहर एक सत्ताकी प्रतीति होती है, वास्तव में बाहर उस सत्ताका कुछ भी अस्तित्व नहीं है। हम जब इन्द्रियोंको और बुद्धिकी क्रियामात्रको जान सकते हैं तब और किसी सत्ताको स्वीकार करनेकी कुछ आवश्यकता नहीं है। वास्तवमें हमारे ज्ञानकी अनिवार्य प्रकृति ऐसी ही है, कि—हम वृक्ष लता आदि विज्ञानों को बाहर स्थित मान बैठते हैं, परन्तु विचार कर देखा जाय तो यह हमारा भ्रम ही है। हमको जब विज्ञानके सिवाय और किसी ज्ञानके उत्पन्न करनेका स्वप्नमें भी अधिकार नहीं है तब वह विज्ञान बाहर कैसे रहेगा, वह

तो भीतरका ही पदार्थ है। बाहर भीतर कोई सत्ता नहीं है, विज्ञान सदा भीतर ही भीतर क्रिया करते हैं।

ये दोनों ही तार्किक आत्मचैतन्यका होना नहीं मानते दोनों ही आंतिर के विज्ञानोंको स्वप्रकाश मानते हैं। ये विज्ञान उपस्थित होते ही जानेजाते हैं। ये आप ही दूसरोंको प्रकाशित करते हैं इनको प्रकाशित करने के लिये किसी स्वतन्त्र आत्मज्योतिकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है। इन दोनों मतोंमें ज्ञाता और ज्ञेय, विषयी और विषय तथा द्रष्टा और दृश्यके पृथक् अस्तित्वकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है। विज्ञान ही ज्ञाता है और ज्ञान ही ज्ञेय है। विज्ञान आप ही अपने आपको प्रकाशित करते हैं। आप ही अपने निकट आत्मप्रकाश करते हैं, ये स्वप्रकाशस्वरूप हैं। यदि कहना चाहो तो एकके ऊपर दूसरा इसप्रकार जायमान विज्ञानप्रवाहको ही आत्मा कह सकते हो। विज्ञानोंसे अलग स्वतन्त्र कोई आत्मा नहीं है।

ऊपरके सिद्धान्तका नाम है—'विज्ञानवाद'। भगवान् शङ्कराचार्यने इन दोनों मतोंका खण्डन किया है। उन्होंने लिखा है-विज्ञानोंको प्रकाशित करनेके लिये एक स्वतन्त्र आत्माको माननेकी अत्यन्त आवश्यकता है। जब ये विज्ञान हैं तो अवश्य ही किसीके विज्ञेय हैं। विज्ञान विज्ञानका ही ज्ञेय नहीं होसकता (इसमें विषयी और विषयका भेद नष्ट होजायगा, यह कैसे होसकता है, कि—दुःख आदि दुःख आदिके ही ज्ञेय हों या दुःख आप अपने ही प्रयोजनके लिये हों, नट आप ही अपने कन्धे पर कैसे चढ़ सकता है?) इसलिये ये विज्ञान अवश्य ही हमारे विज्ञान हैं—आत्माके ही ज्ञेय हैं।

विज्ञान बराबर आगे पीछे उपस्थित होते रहते हैं, सर्वदा दिखाई देते हैं, इसकारण दृश्य हैं। ये दिखायी भी दें और इनको कोई देखता न हो, यह कैसी युक्ति है? ये आप ही अपने दृश्य हैं, अपनेको ही अपना दर्शन देते हैं, ऐसा नहीं होसकता। इसलिये इनका कोई एक स्वतन्त्र ज्ञाता वा द्रष्टा अवश्य ही मानना पड़ेगा। ये विज्ञान आपसमें एक दूसरेके साथ सटेहुए आया करते हैं, अकेला कोई नहीं आता, इसलिये विज्ञानवादी इन को विज्ञानधारा वा विज्ञानप्रवाह कहते हैं। जैसे शरीर और हाथ पैर हैं ऐसे ही अङ्गाङ्गिभावसे एक दूसरेके साथ संश्लिष्ट होकर आया करते हैं, नहीं तो ये जाने ही न जायँ। समस्तज्ञानका मूल सादृश्यबोध वा वैसादृश्यबोध है। एक विज्ञान दूसरेके समान या दूसरेके असमान है ऐसा बोध न हो तो कोई विज्ञान समझमें नहीं आसकता, इसलिये विज्ञान आप ही अपनेको प्रकाशित करते हैं यह युक्ति नहीं टिक सकती, क्योंकि-एक विज्ञान आत्मप्रकाशके लिये दूसरे सदृश वा विसदृश विज्ञानकी अपेक्षा रखता है। अब बतलाओ कि-जो विज्ञान धाराप्रवाह रूपसे हमारे भीतर नित्य उपस्थित होते हैं उनके एक विज्ञान दूसरेके सदृश या विसदृश है यह तुलना या विचार कौन करता है? यह विचार विज्ञान आप ही तो कर नहीं सकते, इसलिये इनका ज्ञाता वा द्रष्टा कोई स्वतन्त्र ही मानना होगा विज्ञानवादियोंके मतमें एकके बाद दूसरा इसप्रकार आनेवाले भिन्न २ विज्ञान क्षण २ में आते जाते हैं। इनको क्षणिक कहनेसे एक विज्ञान दूसरेके सदृश है या विसदृश है यह ज्ञान कुछ भी नहीं होसकेगा। सादृश्यज्ञानका स्वभाव ही

यह है, कि-हमने एक वस्तुको देखनेके पीछे जब और एक वस्तुको देखा तो पहले देखी हुई वस्तुका स्मरण हो आया, पहले देखी वस्तुका स्मरण होने पर, वर्त्तमान वस्तु उसके सदृश है या नहीं, यह बतलाया जा सकता है, परन्तु विज्ञानवादमें प्रथम वस्तुका दर्शन तो एक विज्ञान है और वह क्षणिक है, अतः वह नष्ट होगया। फिर उसका स्मरण भी एक विज्ञान और क्षणिक है अतः वह भी दूसरी वस्तुके दर्शनके समय तक नहीं ठहरेगा। इस दशामें यदि विज्ञानसे अलग द्रष्टा नहीं होगा तो विज्ञानवादमें सादृश्यज्ञान ही असम्भव हो-जायगा। एक बात और भी है-विज्ञान जो कि—निरन्तर एकके पीछे दूसरा इसप्रकार सटेहुए आते हैं इनका भिन्नताका बोध यदि न हो तो इनको समझा ही कैसे जाय? अन्धकारके ज्ञानको यदि प्रकाशके ज्ञानसे अलग न करलें तो क्या हमें अन्धकारका ज्ञान हो-सकता है? कदापि नहीं हो सकता। ये विज्ञान क्या आप ही आपको इसप्रकार पृथक् कर सकते हैं? विज्ञानोंके सिवाय यदि और एक स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं तो उनको अलग २ कौन करता है? उन की भिन्नताका विचार कौन करता है? जो करता है वही आत्मा है। इसलिये ये सब विज्ञान एक स्वतन्त्र ज्ञाताके ज्ञेय हैं। विज्ञानवादमें एक और बड़ाभारी दोष है, कि—एक विज्ञानके पीछे दूसरा विज्ञान चलता है, यह जो विज्ञानकी धारा बहती है, इसमें जब एक विज्ञान के बाद दूसरा विज्ञान खड़ा होता है तब इन दोनोंके मध्यमें कोई नहीं रहता तो उस मध्यके समयमें एक साथ ज्ञानका अभाव होजाना चाहिये? इस प्रश्नका

उत्तर विज्ञानवादी कुछ भी नहीं दे सकते। यदि कहो कि-जलके स्रोतेकी समान पहला विज्ञान अगले विज्ञान के अङ्गमें मिल कर दोनों विज्ञानोंका एक ही रूपमें विवेचन होता है और यों ही विज्ञान उत्पन्न होते रहते हैं। ऐसा मानने पर भी विज्ञानवादीको कुछ लाभ नहीं हो सकता, क्योंकि-उन विज्ञानोंके मध्यमें कालकृत भिन्नता सदा ही बनी रहेगी। एक विज्ञान वर्त्तमान कालका होगा तो दूसरा व्यतीत कालका होगा। इन दोनों विज्ञानोंके मध्यका काल शून्य ही रहेगा। इसलिये विज्ञानसे अलग एक स्वतन्त्र ज्योति माननी ही पड़ेगी। उसके ही द्वारा बुद्धि और बुद्धिकी अनेकों वृत्तियें (विज्ञान) प्रकाशित होती हैं। शास्त्रमें आत्माके सुख दुःख ताप क्लेश आदि को दूर करनेके लिये उपासना आदिकी व्यवस्था है। यदि विज्ञानसे भिन्न आत्मा न माना जाय तो ये सुख दुःख ताप क्लेश आदि विज्ञानके ही अंश वा स्वरूप माने जायँगे। इस दशामें इनसे रक्षा पानेका कोई उपाय नहीं रहा, क्योंकि—जो जिसका स्वभाव वा स्वरूप है उसको दूर करना कठिन है, इसलिये इन सब भाँति २ के विज्ञानोंका द्रष्टा एक स्वतन्त्र आत्मा मानना ही पड़ेगा।

महाराज! विज्ञानवादियोंका मन भ्रान्तिसे भरा है आत्मा देह इन्द्रिय बुद्धि आदि सब पदार्थोंका प्रकाशक और सब पदार्थोंसे अलग है। आत्मा ही शब्द स्पर्श आदि विज्ञानोंको निरन्तर आत्मज्ञानका अङ्गीभूत कर लेता है। आत्मचैतन्य, नित्य स्वतन्त्रशक्तिके विकाश परिचालनसे इन भिन्न २ विज्ञानोंको तयार, शृङ्खलाबद्ध और एक सूत्रमें गुथे हुए कर लेता है। नहीं तो ये हमारे ज्ञानके विषय नहीं हो सकते। यह आत्मज्योति देह

इन्द्रियादिकी प्रवर्त्तक और बुद्धिकी सब वृत्तियोंकी प्रकाशक है। बुद्धिवृत्तिकी प्रकाशक होनेसे ही बुद्धिकी अवस्थाके बदलनेके साथ इस आत्मज्योतिके प्रकाशमें भी न्यूनाधिकता प्रतीत होने लगती है। स्वरूपसे यह प्रकाशक ही है इसके प्रकाशमें कुछ न्यूनाधिकता नहीं होती जाग्रत् अवस्थामें जब अन्तःकरण अनेकों विषयोंमें लिप्त होता है तब यह आत्मचैतन्य अपने स्वरूपमें स्थित रह कर उन विषयोंको प्रकाशित करता रहता है। निद्रा अवस्थामें जब अन्तःकरणकी वासनारूप क्रिया जागकर स्वप्नका चित्र दिखाती है तब यह अपनी ज्योतिसे उस अन्तःकरणकी वासनारूपा वृत्तियोंको प्रकाशित करता रहता है। इसलिये नित्य प्रकाशस्वरूप यह आत्मचैतन्य ही बुद्धिवृत्तिका अनुगामीसा प्रतीत होता है।

राजा जनक-याज्ञवल्क्यजीसे आत्मज्योतिके यथार्थ स्वरूपको सुनकर उसकी बार २ भावना करने लगे। उस दिन आगेको चर्चा नहीं चली।

चौथा दिन।

महर्षि-याज्ञवल्क्यजीके आने पर राजा जनकने उन को प्रणाम कर आसन पर बैठाया और पिछले दिन आत्मज्योतिके विषयमें जो उपदेश पाया था, उसको और भी पुष्ट करनेके लिये प्रार्थना की, तब महर्षि याज्ञवल्क्यजी कहने लगे, कि—

राजन्! आत्मज्योति देह इन्द्रिय-बुद्धि आदि सबसे स्वतंत्र रह कर देह इन्द्रिय आदिकी प्रवर्त्तक और प्रकाशक है। यह बात जाग्रत् अवस्थाका अवलम्ब लेकर मैंने बतायी थी। आज जीवकी स्वप्नावस्था और सुषुप्ति

अवस्थाके सहारे पर यह बताते हैं, कि—आत्मा स्वतंत्र रहकर ही इनका भी प्रवर्त्तक होता है। आत्माकी जाग्रत् स्वप्न अवस्थामें जन्म और मृत्युकी अवस्था इन की प्रकृतिको खोजने पर पता चलता है, कि-स्थूल जड़ अंश और इन्द्रियादि सूक्ष्म सृष्टि सहित इस कार्यकारण रूप शरीरके ग्रहणको ही आत्माका जन्म और इसके परित्यागको ही आत्माकी मृत्यु कहते हैं। इसप्रकार जाग्रत् अवस्थामें इस कार्यकारणरूप शरीरका विषय आदिके संयोगसे जो लौकिक व्यवहार होता है, उसके करनेको ही आत्माकी जाग्रत् अवस्था और इस कार्यकारणरूप शरीरका संसर्ग त्यागते हुए जो अन्तःकरणका वासनारूप परिणाम है उसके प्रकाशित करनेको ही आत्मा की स्वप्नावस्था कहते हैं। इन जन्म और मरण, जागना और सोना सब ही अवस्थाओंमें आत्मा स्वप्रकाशस्वरूप तथा देह इन्द्रिय आदिसे स्वतन्त्र है, यह बात स्पष्ट समझी जा सकती है। क्योंकि-यदि स्वतन्त्र न हो तो किसी एक अवस्थामें ही सदा बँधा पड़ा रहे, एकके स्थानमें दूसरीको ग्रहण ही न करसके।

आत्माके यह लोक और परलोक दो ही स्थान हैं। शरीर, इन्द्रिय, विषय वासना आदिका अनुभव करना ही यह लोक है तथा शरीर इन्द्रिय आदिको छोड़कर जो अनुभव कियाजाय वही परलोक है। इन दोनों लोकोंके बीचमें आत्माका एक और स्थान है, उसका नाम है स्वप्न अवस्था। इस स्वप्नावस्थामें इसलोक या जाग्रत् अवस्थाके अनुभव कियेहुए विषय वासना आदि और जिनका परलोकमें अनुभव किया था वे भी अनुभवमें आते रहते हैं। स्वप्नमें इन दोनों लोकोंमें अनुभव

किये हुए विषयोंका संस्काररूपमें बोध होते रहनेके कारण स्वप्न सन्धिस्थान कहलाता है।

देह इन्द्रिय आदिको त्याग कर मरण होजानेके अनन्तर आत्मा कौनसा आश्रय लेकर परलोकमें जाता है? इसका उत्तर यही है, कि-जीवने इस लोकमें जैसी बुद्धि विद्या और कर्मका संग्रह किया है उनके ही संस्कारोंके आश्रय पर-परलोकको जाता है। महाराज! अब मैं पहले स्वप्न अवस्थाकी बात कहता हूं, परलोककी बात पीछे कहूंगा—

जाग्रत् अवस्थामें सूर्य चन्द्र आदि आधिदैविक पदार्थ चक्षु आदि इन्द्रियोंके ऊपर क्रिया करते हैं, इसकारण इन्द्रियें आधिभौतिक जड़ विषयोंके संयोगसे प्रबुद्ध हो कर अन्तःकरणकी प्रतिक्रियाको उत्पन्न कराती हैं। उस समय अंतःकरणमें नाना प्रकारकी विषय वासनायें जाग कर विषयोंका ज्ञान और नाना प्रकारकी क्रियाएं होती हैं। जब जीव निद्रावस्थामें स्वप्न देखता है, तब बाहरी आधिदैविक पदार्थ और आधिभौतिक विषय इन्द्रियोंको किसी क्रियाको प्रबुद्ध नहीं करते, उस समय अन्तःकरणमें जागनेमें अनुभव किये हुए विषयोंके संस्कारमात्र जागते हैं। उस समय कोई बाहरी विषय नहीं होता, किन्तु ये वासनारूप संस्कार ही आत्माके विषय बन कर क्रिया करते हैं। आत्मा अपनी स्वतन्त्र-ज्योतिसे इन संस्काररूप विषयोंको प्रकाशित करता है। इससे स्पष्टरूपसे समझमें आता है, कि—आत्मज्योति वासनामय अन्तःकरणसे सर्वथा पृथक् है। क्योंकि—विषयोंका प्रकाश करना ही आत्माका स्वरूप है। विषयसे विषयी सदा स्वतन्त्र होता है।

जाग्रत् अवस्थामें बाहरी पदार्थोंने इन्द्रियोंके ऊपर क्रिया करके इन्द्रियोंको जगा रक्खा था, स्वप्न अवस्थामें वह बात नहीं रहती, अतः आत्मा उनसे भिन्न माना जाता है। परन्तु स्वप्नमें ठीक जाग्रत् दशाके अनुरूप अनुभव संस्काररूपसे अन्तःकरणमें उठा करते हैं, उस समय आत्मा अपनी ज्योतिसे उस वासनामय अन्तःकरणको ही प्रकाशित करता है। जिसका जो वासनारूपसे परिणाम होता है उस समय आत्मा उस परिणाम क्रिया का कर्त्ता होता है। वास्तव में आत्मामें कोई निजका कर्त्तापन नहीं है, परन्तु वह सब क्रियाओंकी मूलशक्ति है। अन्तःकरण उससे ही प्रकाशित और प्रवर्तित होकर अपनी भाँति २ की क्रियाओंको करसकता है। आत्मशक्ति सदा नित्य है। वह कभी लुप्त नहीं होती। वह नित्यशक्ति ही सब क्रियाओंका बीज है। जागते समय का अन्तःकरण स्थूल व हरी विषय और इन्द्रियोंके योग से जो क्रियाएँ करता है, उसका मूलकारण भी वह नित्यशक्ति ही है और स्वप्नके समय जो अन्तःकरण केवल वासनारूप क्रिया करता है उसके मूलमें भी यही नित्यशक्ति है। यह आत्मप्रकाश ही स्वप्नमें अन्तःकरण के संसर्गसे वासनारूप रथ, घोड़े, तालाब, अन्न, जल आदिका उपभोग करता है और जाग्रत् अवस्थामें अन्तःकरण, तथा बाहरी विषयोंके संसर्गसे इस शरीरकी भाँति २ की क्रियाओंको निष्पन्न करता है। फिर सुषुप्त अवस्थामें वह अन्तःकरणका सूक्ष्म वासनामय परिणाम भी नहीं रहता, उस समय अन्तःकरणकी सब वृत्तियें विलीन होकर बीजरूपमें रहती हैं।

इसकारण उस समय यह आत्मज्योति भी बीजरूपमें स्थित अन्तःकरणकी प्रकाशक होती है, फिर उस समय भाँति २ के विज्ञान और क्रियाएँ कैसे होसकती हैं ?। शोक है, कि-मनुष्य इस स्वप्रकाश आत्माके स्वरूपको नहीं जानता। जाग्रत् अवस्थाके कार्यकारणरूप शरीरमें ही व्यस्त रहकर सहस्रोंप्रकारकी कामनायें और कार्योंमें फँसा रहता है।स्वप्नमें देहके साथ संबन्ध शिथिल पड़जाने पर भी अन्तःकरणकी अनेकों वासनायें जागती हैं, उस समय आत्मा उनमें ही प्रवृत्त वा ढका रहता है, तो भी जाग्रत् अवस्थासे स्वप्नमें कार्यव्याकुलता कुछ कम होती है और सुषुप्तिमें तो चित्तका सब ही तरहका परिणाम बन्द होजाता है, अतःआत्माकी कार्यव्याकुलता एकदम बन्द होजाती है। और आत्मा शान्ति पाता है। इसलिये ये जाग्रत् आदि अवस्थायें आत्माका मुख्यरूप नहीं हैं-आत्माका वास्तविक स्वभाव नहीं हैं। स्वभाव कभी नहीं बदलता है। अग्निकी उष्णता और सूर्यका प्रकाश ये क्या कभी बदल सकते हैं ?। ये सब अवस्थायें बुद्धिके कारण होती हैं। बुद्धिके संसर्गसे ही आत्माको ये अवस्थायें प्राप्त होती हैं। वास्तवमें आत्मा की न कोई विशेष क्रिया है और न उसको क्रियाका फल ही भोगना पड़ता है। आत्मा निरवयव है। निरवयव पदार्थका भौतिक पदार्थके साथ संयोग वियोग नहीं होसकता। इसलिये सिद्धान्तमें आत्मा निःसङ्ग स्वतंत्र है। देह इन्द्रियादिकी क्रियाओंके साथ उसका मुख्य संयोग नहीं होता है. इसलिये उसको देह इन्द्रियादिकी भाँति २ की क्रियाओंका कर्त्ता भी नहीं कह सकते,

किन्तु वह देह इन्द्रियादिकी क्रियाओंसे स्वतन्त्र नित्य द्रष्टामात्र है।

आत्मामें अपना कर्त्तापन वा भोक्तापन नहीं है। देह इन्द्रियादिकी अनेकों क्रियाएँ और भोग उसमें आरोपित मात्र होते हैं, किसी अवस्थामें भी आत्माकी उदासीनता-निर्लेपभावमें बाधा नहीं पड़ती। इसप्रकार यह असङ्ग आत्मा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्त अवस्थामें आया करता है तथा फिर सुषुप्तिसे स्वप्नमें और स्वप्नसे जाग्रत् में आजाता है। आत्मा इन तीनों अवस्थाओंसे अलग है फिर भी तीनों अवस्थायें उसकी हैं। ये दोनों बातें पार्थिव दृष्टान्तोंसे समझमें आवेंगी। एक बलवती भारी मछली जब मनकी तरङ्गसे नदीके एक किनारेसे दूसरे किनारे तक तैरती हुई घूमती है उस समय दोनों किनारोंके बीजकी उत्तुङ्ग तरङ्गमाला जैसा उस मछली को कुछ बाधा नहीं देसकती। वह मछली अनायास ही उस प्रवाहके वेगको लाँघकर दोनों ओर स्वच्छन्द विचरती है। ठीक इसप्रकार ही यह आत्मा भी भवसागर में विचर रहा है और शरीर इन्द्रियादिकी किसी क्रिया के सर्वथा वशीभूत नहीं होता। इस आकाशमें एक वेगसे उड़नेवाला पक्षी बार २ उड़कर और थके शरीर में अपने पंखोंको फैलाकर विश्रामके लिये घोंसलेकी ओरको दौड़ता है, ऐसे ही यह जीव जाग्रत् और स्वप्न कालमें सहस्रों कर्मोंसे अतिश्रान्त होकर श्रम दूर करने के लिये सुषुप्तावस्थामें अपने स्वरूपको प्राप्त होकर ठहर जाता है। इस अवस्थामें जीवकी सब कामनायें सब प्रकारकी विषयव्याकुलता दूर रहती है।

महाराज! यह आत्माके मुख्य निःसङ्ग स्वरूपकी बात

है। वास्तवमें आत्मा संसारके धर्मोंसे जुदा है। आत्मा का संसारधर्म केवल उपाधिके कारण उत्पन्न होगया है। विषय, इन्द्रियें और अन्तःकरणके साथसे ही उसमें संसारधर्म आरोपित होगया है इसका ही नाम अविद्या है। स्वरूपको भी सुनिये—

जीवके शरीरमें सहस्रों नसोंके गुच्छे स्वेत, काले, नीले, लाल आदि वर्णके हैं उनमें भाँति २ का सूक्ष्म रस भरा हुआ है। जीवका लिंगशरीर इन सब अति-सूक्ष्म नसोंके ही आश्रयमें रहता है। विषयोंको भोगने पर उन विषयोंके अनुभवसे उत्पन्न हुई वासनायें इस ही सूक्ष्म शरीरके आश्रयसे रहती हैं। स्वप्नके समय में सूक्ष्म शरीरकी वासनारूप वृत्तियें जीवके लिये कर्मोंके प्रभावसे सचल हो उठती हैं। इन वासनाओंके कारण ही जीव स्वप्नमें—मैं गढ़ेमें गिरगया; हाथीने मुझे सूँडमें लपेट लिया ऐसे सैंकड़ों भावोंका अनुभव करता है। वास्तव में उस समय न गढेमें ही गिरता है और न हाथीकी सूँडमें ही लिपटता है तथापि ऐसी मिथ्या वासनाओं से घिरजाता है, यही अविद्या है। जागतेमें जैसे अनुभव किये थे, जैसी चिन्तायें की थीं उनके ही अनुसार वासनायें स्वप्नमें भी उठती हैं। यदि जीव जागतेमें खोटी विषयवासनाओंसे घिरा रहता है और जब देखो तब नीच कामोंमें ही मस्त रहता है तो स्वप्नमें भी उस के ही अनुसार तुच्छ भावनाओंसे व्याकुल होता है, यही अविद्या है और यदि जीव जागतेमें प्रतिक्षण सर्वत्र ब्रह्मशक्ति तथा ब्रह्मानन्दका ही अनुभव करता है और धीरे २ उसका वही ज्ञान दृढ़ होजाता है तो स्वप्नमें भी

उसके ही अनुकूल उच्च वासनाओंका पात्र बनता है, इसको विद्या कहते हैं।

विषयोंको ब्रह्मसे भिन्न रूपमें देखने पर-केवल शब्द स्पर्श आदि वा धन जनगृह, धन आदि रूपसे ही अनुभव करने पर और ब्रह्मभावशून्य विषयोंके लिये ही कामना करते रहने पर तथा ऐसी कामनासे प्रेरित होकर कर्म आदि करते रहनेसे जीव धीरे २ संसारमें पूरा २ आसक्त होजाता है। यदि विषयदृष्टिके स्थानमें सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि कीजाय, विषयोंकी कामना हटकर ब्रह्मभावना छटजाय तो फिर ब्रह्मसे भिन्न रूपमें विषयोंका दर्शन न होकर सर्वत्र ब्रह्मका ही दर्शन हुआ करेगा, इसको विद्या वा सर्वात्मभाव कहते हैं। और ब्रह्मदृष्टि न रखकर केवल विषयको ही देखना अविद्या कहलाता है। विद्याका उदय होने पर सर्वात्मभाव बढ़ता है और अविद्याके उदयमें संकुचित परिच्छिन्न आत्मभाव बढ़ता है। अविद्याकी अवस्थामें जीव पदार्थोंको ब्रह्मसे जुदे समझ कर धारण करता है। जिस पदार्थकी धारणा आत्मासे—ब्रह्मसे—अपने आपसे सर्वथा भिन्न मानकर कीजायगी वह पदार्थ अवश्य ही जीवको मारने आवेगा गढ़ेमें डालने आवेगा. अपने वशमें करेगा। भेदज्ञानमें ऐसी दशा अवश्य ही होती है, क्योंकि-अविद्याका यह नियम ही है कि-वह पदार्थ मात्रको आत्मासे भिन्न-रूपमें लाकर खड़ा कर देती है। सर्वात्मभावके स्थानमें भेदज्ञानको जमा देती है। उस समय विषय सर्वथा ब्रह्मशक्तिसे भिन्नसा दीखने लगता है। उसको देखकर पानेके लिये आशा और कामना अवश्य ही उठेगी उस कामनासे क्रिया उत्पन्न होगी और फिर उस

क्रियाका फल भोगना ही पड़ेगा। बस यही संसार है, यही अविद्याका खेल है।

अब विद्याका प्रभाव देखिये-विद्याकी कृपा होने पर कोई पदार्थ ब्रह्मसे भिन्न नहीं दीखता, पदार्थमात्रमें ब्रह्मशक्तिकी ही आत्मज्योतिकी ही झाँकी दीखती है। प्रतीत होता है-पदार्थमात्र उसका ही विकाश है, ब्रह्म के ही ऐश्वर्यको प्रकट कर रहा है। सुख दुःख सब उस ब्रह्मानन्दकी ही अभिव्यक्ति हैं सकल विश्व उसके ही स्वरूपका पता दे रहा है। इसप्रकार उस समय सर्वत्र ब्रह्मभाव ही होता है, अपने सुखके लिये किसी पदार्थ की कामना उत्पन्न नहीं होती। उस समय चारों ओर ब्रह्मानन्दका लाभ ही अपनी कामनाका लक्ष्य बनजाता है। यह विद्या जब पराकाष्ठाको पहुँच जाती है तब अविद्याकी जड़ कटजाती है और मुक्ति प्राप्त होजाती, अविद्या-सम्बन्ध कर्मकी गाँठ खुलजाती है। सब सन्देह छिन्न भिन्न होजाते हैं। सब कामनायें तृप्त हुई दीखने लगती हैं। जैसे सुषुप्तिके समय कोई खास कामना रहती है, कोई वासनाका स्वप्न नहीं दीखता है। इस प्रकार ही विद्यावस्थाके आने ही संसारके कर्माकर्म मार्ग छिपजाते हैं क्योंकि-विषयोंको अपना ही समझ कर उनमें आत्मभावकी भावना करके प्राप्तिकी आशामें केवल अपने सुखके लिये कोई क्रिया नहीं होती है, उस समय सब क्रियाएँ ईश्वरार्थ होती हैं, उस अवस्थामें सब भय भागजाता है। सुषुप्ति अवस्थामें अन्तःकरण की सब वृत्तियोंके विलीन होजाने पर जीवात्माको अपने स्वरूपको ही प्राप्ति रहती है, इसकारण भेदज्ञान दूर होजाता है। जैसे प्रिया स्त्रीका आलिङ्गन करने पर पुरुष

भीतर बाहरकी सब सुधबुध भूलजाता है-स्त्रीके अतिरिक्त और किसी पदार्थका ज्ञान नहीं होता-आलिङ्गन के सुखमें मग्न होजाता है। जैसे उस समय अपने भीतरी सुख [illegible] का भी भान नहीं रहता है, केवल आलिङ्गनानन्दका ही अनुभव होता है। ऐसे ही जीव देह इन्द्रियादिके संसर्गमें अपने मुख्य आनन्दमय स्वरूपसे अपनेको जुदा मानकर सुखी, दुःखी, कामी, क्रोधी, छोटा, बड़ा, धनी, अनाथ, राजा और रङ्क आदि रूपसे अनुभव करता है, परन्तु सुषुप्ति अवस्थामें जब परम आत्मचैतन्यके द्वारा गाढ़ आलिङ्गन होता है तब भेदज्ञान—द्वैतबोध दूर होजाता है। जीव अपने स्वरूप ब्रह्मानन्दमें मग्न होजाता है, यही जीवात्माकी आत्मस्वरूपप्राप्ति है। यह एकात्मभाव सर्वात्मभाव ही जीव का स्वाभाविक मुख्य स्वरूप है। इस अवस्थामें जीवात्मा आत्मकाम वा आप्तकाम होजाता है। आत्माके अतिरिक्त किसी और पदार्थकी कामना उत्पन्न होते ही उस का नाम अनात्मकाम होजाता है। जाग्रत् अवस्थामें दूसरे पदार्थोंकी भिन्नताका बोध रहनेसे उनकी प्राप्तिकी आशामें कामनायें जाग उठती हैं। ऐसा ही स्वप्नावस्था में भी होता है, परन्तु सुषुप्तिमें आत्मासे भिन्नभाव में—स्वतन्त्रभावमें अन्य पदार्थोंकी प्रतीति नहीं रहती इस कारण उस समय जीव आत्माराम होजाता है। ऐसे ही विद्याका उदय होने पर भी 'कोई पदार्थ ब्रह्म से भिन्न नहीं है' ऐसा ज्ञान दृढ़ होजानेके कारण ब्रह्मातिरिक्त भावसे किसी पदार्थकी कामना ठहर ही नहीं सकती। किसी पदार्थकी कामना और वासना न रहने पर जीव सकल दुःख, शोक, व्याकुलता और भय आदि से रहित होकर पूर्णकाम होजाता है।

अविद्या-काम्यकर्म के द्वारा आत्माका जो विषयज्ञान आदि हुआ करता है वह आत्माकी एक आगन्तुक अवस्थामात्र है-वह आत्माकी स्वाभाविक अवस्था नहीं है। स्वाभाविक स्वरूपावस्थाकी प्राप्ति होजाने पर शुभ अशुभ किसी कर्मकी भिन्नताका बोध नहीं रहता। कामना ही सब प्रकारके कर्मोंका कारण है। इस अवस्था में जब ब्रह्मस्वरूपके सिवाय और पदार्थकी प्रतीति ही नहीं होती तब किसी पदार्थकी प्राप्तिकी कामना टिक ही कैसे सकती है? जब कामना नहीं तो कामनाजनित कर्म कहां रहा? उस समय सब कर्मकाण्ड एक ब्रह्मके ही उद्देश्यसे कियाजाता है। इसप्रकार उस समय कर्मके सम्बन्धसे अतीत होजानेके कारण पिता, माता, देवता, चोर, चाण्डाल आदि कोई भी विभिन्नरूपमें प्रतीत नहीं होता। उस समय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, तपस्वी, वानप्रस्थ आदि वर्ण आश्रम आदि सब एकमें मिलजाते हैं। सब ही एक ब्रह्मस्वरूपका परिचय देने लगते हैं।

इच्छित पदार्थकी प्रार्थनाका नाम काम है। वह प्रार्थना कीहुई वस्तु यदि न मिले तो शोक होता है क्योंकि—मनुष्य उस वस्तुके गुणोंका चिन्तवन करता हुआ खिन्न होता है। यह काम वा शोक बुद्धिका धर्म है-बुद्धिके सहारे रहता है। जब विद्याका प्रकाश फैलता है तब आत्माका अपना स्वरूप खुलजाता है-बुद्धिका सत्त्व गुण प्रबल होकर बुद्धिकी मलिनता मिटजाती है। इसलिये उससमय अशुद्ध मलिन विषयव्याकुलबुद्धिके साथ कुछ संबन्ध न रहनेके कारण जीव यावन्मात्र शोक और कामके पार होजाता है। सुषुप्ति अवस्थामें

भी बुद्धि की सब विषयग्रहण वृत्तियें लीन होजाती हैं, इसकारण जीव कामोंके पार होजाता है।

सुषुप्ति अवस्थामें आत्माको अपने स्वरूपके सिवाय किसी अन्य पदार्थका बोध नहीं रहता है, इसकारण सब प्रकारके भाँति २ के विज्ञान लुप्त होजाते हैं, यह बात पीछे बतलाचुके हैं, परन्तु हे राजन्! यहाँ पर यह प्रश्न उठता है, कि-ज्ञान ही जिसका स्वरूप है उस आत्मामें किसीप्रकारका विशेषज्ञान नहीं रहता, इस का क्या तात्पर्य है? राजन्! जरा मन लगा कर सुनो मैं इसका मर्म कहता हूं-विषयका प्रत्यक्ष होनेके समय जीव देखना सुनना आदि कैसे करता है, इसको समझ लेने पर यह बात भी समझमें आजायगी, विषय और इन्द्रियका संयोग होने पर विषय इन्द्रियके भिन्न २ अनुभव वा क्रियाको उभारा करता है और उस समय अन्तःकरण अपनी शक्तिसे उन उभरी हुईं क्रियाओंको सिलसिलेमें गूँथ कर सजादेता है। विषय, इन्द्रियें और अन्तःकरणकी इसप्रकारकी क्रिया और प्रतिक्रिया के कारण जीवका देखने सुनने आदिका व्यापार हुआ करता है। विषय इन्द्रिय आदिकी इसप्रकार भाँति २ की क्रिया और प्रतिक्रिया न हो तो साक्षीरूपसे स्थित आत्माको विषयका प्रत्यक्ष ही न हो। महाराज! अब विचार कर देखिये सुषुप्ति अवस्थामें विषय नहीं रहते हैं और अन्तःकरण तथा इन्द्रियोंकी क्रिया होती ही नहीं दीखती। उस समय अन्तःकरण बीजरूपसे प्राणशक्तिमें विलीन रहता है, इसकारण विशेष विज्ञान का हेतु न रहनेसे उस समय आत्माको कोई विशेष विज्ञान नहीं होता। उस समय आत्मा मुख्य

आत्मस्वरूपमें स्थिर रहता है, विशेष दर्शनकी कारणीभूत अविद्याका ध्वंस होजाता है, फिर आत्माको कोई विशेष विज्ञान कैसे होसकता है? आत्माकी दृक्शक्ति वा चैतन्यज्योति कभी विलुप्त नहीं होती। जैसे सूर्य अपने स्वभावसिद्ध प्रकाशरूप ज्योतिके द्वारा वस्तुओंका प्रकाश करता है, ऐसे ही आत्मा नित्य जागती रहने वाली दृक्शक्ति वा आत्मज्योतिके द्वारा सबको प्रकाशित करता रहता है। यह आत्माकी दृक्शक्ति जीवकी दृक्शक्तिकी समान क्रियाशील नहीं है, इस दृक्शक्तिमें इन्द्रिय आदिके किसी स्पन्दन वा क्रियाकी आवश्यकता नहीं है, इसका कभी लोप नहीं होता। विषयका प्रत्यक्ष होनेके समय विशेषदर्शनका हेतु अन्तःकरण, चक्षु और रूपके जाग्रत् रहनेके कारण अर्थात् इनमें क्रिया होनेके कारण उस समय आत्मा भांति २ के पदार्थोंका द्रष्टा श्रोता आदि हुआ करता है, परन्तु जब विद्याका उदय होता है तब द्रष्टा और दृश्य इनका भेदज्ञान नहीं रहता है, उस समय सब एकीभूत होजाता है, क्योंकि-उस समय ब्रह्मसत्ता वा ब्रह्मशक्तिके सिवाय विशेष द्रष्टा, दृश्य और दर्शनकी क्रियाकी भिन्नताका बोध नहीं रहता है। ब्रह्मसे भिन्न इन्द्रिय या विषय किसीकी भी भिन्न सत्ता प्रतीत नहीं होती इसकारण सब ही विशेष विज्ञान अन्तर्धान होजाते हैं। इसलिये विशेष विज्ञानशून्यता ही आत्माका मुख्यस्वरूप है। आत्मा नित्य, अलुप्तज्ञान, ज्योतिःस्वरूप है।

अविद्याका नियम ही यह है, कि-वह ब्रह्मसे भिन्न रूपमें अन्य पदार्थोंका ज्ञान उपजाती है। इसलिये ही अविद्यादशामें प्रत्येक वस्तुका स्वतन्त्र स्वाधीनभावसे

पृथक्२ ज्ञान होता है, परन्तु अविद्या नष्ट होजाने पर यह भिन्नताका बोध भी नष्ट होजाता है, सर्वत्र ब्रह्मदर्शन होने लगता है-अद्वैतज्ञान पूर्ण प्रतिष्ठा पाजाता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस आदि विशेष २ विज्ञानोंके द्वारा यह अनुमान होता है, कि-आत्मा नित्यशक्तिस्वरूप है विशेष २ विज्ञान व क्रियाएँ ही उसके स्वरूपका पता देनेवाले चिह्नस्वरूपसे अनेकों आकारोंमें विद्यमान हैं। यही इनके विशेष विकाशका प्रयोजन है। यह संसार अनेकों प्रकारसे निरंतर उसके ही नित्य ज्ञान और नित्य शक्तिको प्रकाशित कररहा है। भिन्न २ विज्ञानोंमें वही एक ज्ञान प्रकाशित है। भिन्न २ क्रियाओंमें वही एक महाशक्ति प्रकाशित है। जैसे अत्यन्त निर्मल स्फटिक हरे, नीले, लाल, पीले आदि वर्णोंके संयोगसे आप भी हरा नीला आदि भासित होने लगता है। स्फटिककी स्वच्छता ही जैसे स्फटिकके हरा आदि आकार धारण करनेका कारण है। उसके स्वच्छस्वभाव को दूर करके जैसे उसमें हरा आदि भेद कल्पित नहीं होसकता, ऐसे ही प्रज्ञानघनस्वभाव आत्मचैतन्यके नानाप्रकारके उपाधिभेदसे देखना सूँघना आदि भेद प्रतीत होने लगते हैं, परन्तु उसके ज्ञानात्मक व शक्त्यात्मक स्वरूपको दूर करके उसमें दर्शनादि भेद कल्पित नहीं होसकता। चक्षु आदि द्वारके संयोगसे परिणाम को प्राप्त हुई बुद्धिवृत्तिमें अभिव्यक्त चैतन्य-'दृष्टिशक्ति' आदि नामसे कहाजाता है। जैसे सूर्यकी ज्योति प्रकाश्य पदार्थोंके भेदसे उनके लाल पीले आदि रङ्गों पर पड़कर आप भी उन ही रूपों वाली भासने लगती है। जैसे सूर्यकी ज्योतिका हरा लाल आदि विशेषरूप उस

स्वच्छ ज्योति के विना नहीं होसकता। ऐसे ही चैतन्यज्योति का भेद भी उपाधिभेदसे ही प्रतीत होता है, परन्तु यह उपाधिकृत भेद उसके स्वरूपकी सहायताके विना नहीं होसकता। आकाशको जो लोग "सर्वगत" कहा करते हैं वह व्यवहार सब पदार्थोंमें उसकी ही अनुगत सत्ताके कारण से होता है। इसलिये एक चैतन्य ही भांति२के आकारों में अभिव्यक्त हो रहा है। इन सब पदार्थोंके भेदसे ही चैतन्यका भेद कल्पित है, नहीं तो चैतन्यमें स्वरूपतः कोई भेद नहीं है, इसलिये ये भांति २ के भेद चैतन्यके धर्म नहीं हो सकते और आत्मचैतन्यमें जो दर्शन श्रवण आदि शक्तिरूप अनेकों धर्म कल्पित होते रहते हैं वे दर्शन श्रवण आदि सब भेद भी एक चैतन्य शक्तिके विना नहीं ठहर सकते। इसप्रकार एक ज्ञान ही अनेकों विज्ञानों के आकारमें प्रकट होरहा है और एक महाशक्ति अनेकों क्रियाओंके आकारमें प्रकट हो रही है। विज्ञान और क्रियाएँ उस महाज्ञान और महाशक्तिको छोड़कर स्वतन्त्र नहीं हैं।

राजन्! यह मैंने जाग्रत्, स्वप्न और विशेषकर सुषुप्ति अवस्थाको आश्रय लेकर आत्मचैतन्यका मुख्यस्वरूप तुम्हें सुनाया है। अब कलको तुमसे जो प्रतिज्ञा की है उसके अनुसार आत्माकी परलोकगतिका अवलम्ब लेकर आत्माके मुख्यरूपको बताऊँगा। आज तुम्हें जो कुछ सुनाया है, उसको हृदयमें धारण करो। कल परलोकगमनका रहस्य सुनाया जायगा।

—०—

पांचवां दिन।

आज महर्षि याज्ञवल्क्य राजा जनकके पास बैठ कर यों कहने लगे महाराज! यह बात मैं आपसे कहचुका हूं, कि-आत्मा जब स्वप्नावस्थामें आता है तब वह अपनी स्वरूपावस्थामें रहता है अपने ज्योतिःस्वरूपमें होता है। इस अवस्थाको पाना ही परमलाभ—परमगति और परमपद है। अपनी अवस्थाको पाजाने पर ही परमात्मा की प्राप्ति होती है। इस अवस्थाके परमानन्दका ही एक कण क्षुद्र अंश विषयसुख है। जीव विषयभोगके समय अपने विशाल आनन्दरूपका कणमात्र स्वाद पाता है। मनुष्यके विषयसुखको क्रम २ से बढ़ाते जाओ--फैलाते जाओ, जहाँ जाकर समाप्त होजाय—जहां पहुँच कर गिन्तीका अन्त होजाय, जिस स्थानमें पहुँचने पर आनन्द की नाप तोल न होसके वही सर्वोपरि आनंद वा ब्रह्मानन्द है। इस परमानन्दकी बराबरी कहीं नहीं पायी जाती। यही आत्माकी स्वरूपावस्था है। अब हम जीवके शरीरत्यागके अनन्तर परलोकमें अन्य शरीर धारण करनेके दृष्टान्तका अवलम्ब लेकर आत्माके वास्तविक स्वरूपकी व्याख्या करेंगे।

राजन्! जब समय पा कर जीवका शरीर बुढ़ापे रोग आदिके चुङ्गलमें फँसजाता है और मरणकाल निकट आपहुँचता है उस समय अन्तःकरणकी वृत्ति तथा सब इन्द्रियोंकी वृत्तियें प्राणशक्तिमें विलीन होजाती हैं। यह प्राण ही जीवके कर्मोंके कारण प्राणशक्तिकी अभिव्यक्तिके लिये जीवको अन्यदेह ग्रहण करनेके लिये ले जाता है क्योंकि-जीव देहका आश्रय लिये

बिना अपने कर्मोंका फल नहीं भोग सकता। जबतक प्राणशक्ति प्रकट होकर देह और देहके अवयवोंको न गढ़देय तबतक जीव कर्मफलका भोग कैसे करसकता है इसलिये प्राणशक्ति ही जीवके कर्मफलभोगके लिये जीवको योग्य स्थानमें लेजाती है और शरीर आदिकी रचना कर देती है। जैसे कोई राजा नगरको देखने लिये आये तो उसके आनेसे पहले ही प्रबन्ध करनेवाले कर्मचारी, दूत, सूत तथा दास सेवक आदि अन्य अनुचर पहले ही उस नगरमें आपहुँचते हैं और भोजन आदि की अनेकों प्रकारकी सामग्रीका प्रबन्ध करलेते हैं। फल फूल आदि इकट्ठे कर सड़कों पर बन्दनवार पताका आदि लगाते हैं। स्वागतका प्रबन्ध करते हैं। ऐसे ही जीवके कर्मफलको भोगनेके लिये उसकी इन्द्रिय आदि शक्तियें यथोचितप्रबन्धमें प्रवृत्त होजाती हैं।

मरणके समय सूर्य आदिकी ज्योतियें चक्षु आदि इन्द्रियोंके ऊपर अपनी २ क्रिया नहीं करती हैं। उस समय इन्द्रियोंकी शक्तियें अपने २ स्थानसे सिमट कर हृदयमें आ एकाकार होजाती हैं—तब ही जीवका रूप आदिका विज्ञान अन्तर्धान होता २ छिपजाता है। इस प्रकार इन्द्रियें सब अङ्गोंमेंसे सिमिटकर जब अन्तःकरण में एकाकार होजाती हैं तब देखना सुनना, सूंघना आदि विशेष २ प्रकारका ज्ञान बन्द होजाता है और जीव चेष्टाशून्य हो मुग्धसा होजाता है। उस समय अन्तःकरणकी वासनामय वृत्तियें भी प्राणशक्तिमें विलीन होजाती हैं।

उस समय इस प्राणशक्तिको आत्मज्योति प्रकाशित करती रहती है। जीवने आजतक जैसे २ कर्म किये थे,

जिस २ भावसे विषयोंको भोगा था, कामनाओंके वश में हो जैसे २ विषयोंमें आसक्ति जुटायी थी उसके ही अनुसार प्रज्ञा, कर्म और वासनाके संस्कार इस प्राण-शक्तिमें अस्फुटरूपसे तनिक २ प्रकट होते रहते हैं। उन ही संस्कारोंके बलसे जीव शरीरमेंसे निकलता है और अपने अनुरूप स्थानमें जाता है (१) वहां जो भौतिक उपादान होता है, उसके ही आश्रयमें इन्द्रियों की वृत्तियें उद्भूत होने लगती हैं। इसप्रकार संस्कारवश सूक्ष्मशरीरकी अभिव्यक्तिके साथ २ वे सब बाहरी उपादान भी स्थूल देहके आकारमें परिणामको प्राप्त होने लगते हैं। इसप्रकार स्थूल शरीरके साथ इन्द्रियादिकी अभिव्यक्तिके साथ ही सूर्यादि देवता भी उन सब अभिव्यक्त इन्द्रियोंके ऊपर अपनी २ क्रिया करने लगते हैं और जीवको विषयका प्रत्यक्ष होता रहता है।

इसप्रकार ही पितृलोक, गन्धर्वलोक, प्रजापतिलोक, ब्रह्मलोक तथा दूसरे भौतिकलोकोंमें जीव अपने संस्कारों के अनुसार जन्म धारण करता रहता है।

आत्मा निरवयव और निःसङ्ग है—सर्वज्ञान और सर्व-शक्तिस्वरूप है। किसी एक विज्ञान वा किसी एक क्रिया के साथ इसका संबन्ध नहीं है। ये विशेष२ स्वरूप इसके प्रकाशके द्वारमात्र हैं, अतः ये इस आत्माकी उपाधि हैं। इन उपाधियोंके सङ्गसे भिन्न २ भाववालासा प्रतीत

(१) उस समय प्राणशक्ति ही आत्माकी उपाधिरूप वा विषयरूप होती है।मरणकालमें आगे मिलनेवाले देहको ग्रहण करनेकी वासनायें कुछ २ अभिव्यक्त होती रहती हैं। उस अभिव्यक्तिको आत्मज्योति प्रकाशित करती है इसका ही नाम"हृदयाग्र वा प्रद्योतन"है आत्माका स्वतन्त्र गमनागमन कुछ नहीं होता है, प्राणशक्तिके द्वारा ही आत्मा के गमनागमनका व्यवहार होता है।

होता है। जीव प्राणान्तके समय प्राणशक्तिरूप उपाधि के द्वारा इस स्थूल शरीरसे बाहर निकलता है। उस प्राणशक्तिकी प्रकटता जब किसी विशेष देशमें पहली वासनाके अनुसार होती है तब उस प्रकट हुई उपाधिके द्वारा ही आत्मा भी उन उपाधियोंसे युक्तसा ही प्रतीत होने लगता है।

उस समय प्राण, मन, बुद्धि आदि की अभिव्यक्ति होनेसे उसको भी प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय समझने लगते हैं। रूपको देखनेके समय चक्षुरूप, गन्धको सूँघनेके समय घ्राणरूप इत्यादि इन्द्रियोंकी विशेष २ क्रियाओंके समय उस २ आकारसे आकारवालासा प्रतीत होने लगता है। ऐसे ही स्थूल देहकी अभिव्यक्तिमें आत्मा भूतमय देहमयसा प्रतीत होता है और जब जीवात्मा ब्रह्मसे पृथक् स्वतंत्ररूपसे भिन्न २ पदार्थोंको देखता है उस समय उन पदार्थोंकी वासना होने पर काममय, फिर उस चाही हुई वस्तुके न मिलनेसे उस अभिलाषाके क्रोधरूप बनजाने पर आत्मा क्रोधमयसा दीखने लगता है। हमारे मनकी दशाके अनुसार आत्मा काममय क्रोधमयसा मालूम होता है, परन्तु विषयोंमें दोषदृष्टि होते ही उस कामनाके शान्त होने पर फिर आत्मा अकाममय, अक्रोधन, शान्त निर्मलरूप भासने लगता है। इसप्रकार इन कामना आदिके वशमें चलकर जो प्राणी जैसा आचरण करता है वह वैसा ही कर्म करनेवाला प्रतीत होने लगता है, परन्तु कामना न रहने पर-विषयवासना विनष्ट होजाने पर-विषयमें ब्रह्मस्वरूप का अनुभव होजाने पर उस प्रकारके कर्म फिर फलको उत्पन्न नहीं कर सकते, उस समय कोई कर्म बन्धनका

कारण नहीं होसकता। विषयकामना ही ऐसा पदार्थ है कि-वह संसारको निवृत्त नहीं होने देती। विषयकामना अपना फलभोग करानेके लिये जीवको इस लोकसे परलोक तक लेजाती है और फिर परलोकसे मृत्युलोकमें लाकर घुमाती है। परन्तु जिनकी चाहना किसी अन्य पदार्थके लिये न होकर केवल आत्मस्वरूपकी ही कामना होती है अर्थात् जिनका उद्देश्य केवल आत्मस्वरूपकी प्राप्ति ही होता है वे पुरुष आप्तकाम होजाते हैं। विविध पदार्थोंके ज्ञानके स्थानमें जिनको सर्वत्र ब्रह्मज्योतिकी ही छटा दीखती है उनके अन्तःकरणमें आत्माके सिवाय और किसी पदार्थकी कामना रह ही नहीं सकती जब किसी अन्य पदार्थका बोध होगा तब ही उसके लिये अभिलाषा होगी।

परन्तु आत्मकामकी दृष्टिमें वस्तुकी वैसी स्वतंत्रता नहीं रहती, फिर वह किसी विशेष पदार्थको पानेके लिये कर्म कैसे कर सकता है? भेदज्ञान न रहनेसे वह किसी भी विषयकी कामना नहीं कर सकता और उस को दूर करनेकी इच्छा भी नहीं कर सकता। कर्मका अभाव होजानेसे विषयोंकी भोगवासना न रहने पर मनुष्य मर कर फिर किसी लोकान्तरमें जा जन्म ग्रहण नहीं करता है, वह आप्तकाम होजाता है, उसकी अविद्या कारण कर्मकी गाँठ खुलजाती है। तात्पर्य यह है, कि-विषयकामना ही बन्धनका हेतु है और आत्मकामना मुक्तिका हेतु है। यह विषयकामना अज्ञानदशामें होती है, अतः अविद्याको ही बन्धनका कारण माना है। ज्ञान प्राप्त होने पर पदार्थोंमें ब्रह्मदर्शन होकर क्रमसे आत्मकाम होजाता है, अतः विद्याको मुक्तिका कारण माना

है। विद्याकी प्राप्ति इस जन्ममें ही कीजासकती है। इस जीवनमें विद्याकी प्राप्ति होजाने पर शरीराभिमान नहीं रहता है। शरीरके विद्यमान रहते हुए भी सुखके लिये कोई कामना नहीं होती। सर्वत्र ब्रह्मात्मदर्शन होता है तब अशरीरी कहलाने लगता है यही ब्रह्मविद्या है, यही मुक्तिका मार्ग है। ब्रह्मवेत्ता तत्त्वज्ञानियोंका कथन है, कि-यह मुक्तिमार्ग अत्यन्त सूक्ष्म और परम विशाल है। ब्रह्मज्ञानी महापुरुष इस तत्त्वको चिरकालसे जानते हैं, वे इस मार्गमें ही चलकर ब्रह्मको पाते हैं। इस मार्ग का अवलम्ब लेनेसे इस शरीरसे निकलने पर ज्ञानकी न्यूनाधिकताके अनुसार ब्रह्मवेत्ताओंकी भिन्न २ लोकों में गति होती है।

जो लोग केवल संसारमें ही लिप्त और विषयमदसे मत्त होकर रात दिन अपने सुखके लिये विषयकामनामें ही अनुरक्त रहते हैं। वे पुरुष शरीरत्यागके अनन्तर सूर्यके प्रकाशसे हीन अन्धकारमय लोकोंमें जाते हैं और जो लोग अपनी इस लोककी सुख कामाना या पुत्र धन आदिके लाभकी आशासे अथवा यश मानको मोल लेनेके लिये बड़े आडम्बरके साथ अनेकों जीवोंको दुःख दे कर यज्ञ याग आदिका अनुष्ठान किया करते हैं। ये लोग उनसे भी अधिक अन्धकारपूर्ण लोकोंमें जाते हैं। ब्रह्म-विद्यामें कुछ भी प्रवेश न होनेके कारण ये लोग भांति २ की दुर्गतिमें पड़कर क्लेशोंमें सड़ते हैं।

जो भाग्यवान् पुरुष सकल भूतोंमें विराजमान नित्य शुद्ध बुद्ध आत्मस्वरूप का अनुभव पा गये हैं, उन को आत्मासे अतिरिक्त पदार्थका बोध होता ही नहीं, फिर

भला वे किसी विनाशी पदार्थके अभिलाषी बन-कर अपने चित्तमें असन्तोष क्यों उत्पन्न करेंगे ?

जो लोग अनेकों अनर्थोंके भण्डार इस शरीरमें प्रविष्ट आत्माके स्वरूपको जानगये हैं वे जानते हैं, कि—यह आत्मा विश्वका कर्त्ता, सबका आत्मा, अद्वितीय, एक है।

जो जीव अज्ञाननिद्रामें बेसुध पड़े हैं वे यदि इस लोकमें ब्रह्मविज्ञानको नहीं पाते हैं तो बार २ जरा जन्म मरणका क्लेश भोगा करते हैं। जो उसको जानलेते हैं वे अमर होजाते हैं। आत्मस्वरूपको जाननेके सिवाय शोक दुःखसे छूटनेका दूसरा कोई उपाय नहीं है।

सब प्राणियोंके कर्मफलोंका नियन्ता जो ज्योतिर्मय आत्मपदार्थ है, उसका साक्षात्कार जो लोग कर लेते हैं उनका भेदज्ञान दूर होजाता है,इसकारण वे किसी पदार्थ में भी भय नहीं पाते।जब उनकी दृष्टिमें दूसरा कुछ होता ही नहीं तब उनको भय कैसे होसकता है?वे तो दूसरेको दूसरा न समझ कर अपना ही स्वरूप देख रहे हैं। उसके ही द्वारा दिन रात्रिरूप काल, संसारका परिवर्त्तन किया करता है। उसके ही प्रकाशसे सूर्य प्रकाशित होता है, वह आत्मज्योति अमृत है। देवता भी उस ज्योतिकी ही उपासनामें लगे रहते हैं। वह सबका कारण है। गन्धर्व आदि पांच लोक और अव्याकृत मूलशक्ति उस में ओतप्रोत रूपसे गुथ रहे हैं। वही ब्रह्म है, वही अमृत है, उसको ही जान कर हम अमर हो सकते हैं।

आत्मशक्तिसे अधिष्ठित होकर ही प्राण, चक्षु, श्रोत्र मन अपना अपना कानिर्वाह करते हैं। चक्षु आदिकी भांति २ की क्रियाओंसे ही उसकी शक्तिका अनुमान

होता है। इसलिये ही उसको, प्राणका प्राण, चक्षुका चक्षु और मनका मन आदि कहते हैं। संस्कार कियेहुए चित्तके द्वारा ही उसको जाना जा सकता है, क्योंकि-शुद्ध पदार्थमें ब्रह्मसे भिन्न किसी वस्तुका भी बोध नहीं होता है। जो ब्रह्ममें भेदकी कल्पना करते हैं, वे अज्ञानी हैं और भ्रममें पड़े हैं। यह भिन्नताका बोध अविद्याके कारण होता है।

आत्मा तो नित्य एकरूप, सकल विकारोंसे शून्य, अप्रमेय, ध्रुव और नित्य है। आत्माको केवल श्रुतिके द्वारा ही जान सकते हैं, दूसरे प्रमाणसे नहीं जान सकते। ब्रह्म (आत्मा) से भिन्न दूसरे पदार्थकी स्वाधीन सत्ता है, ऐसी प्रतीति दूर होते ही आत्मा विज्ञात होजाता है। विश्वकी कारणीभूत अव्याकृत शक्तिसे भी यह आत्मा स्वतन्त्र है।

ऋषिने कहा, कि-महाराज! अब तो आप जीवात्माके विज्ञानमय मुख्य स्वरूपको समझगये होंगे। इस आत्माके मुख्य स्वरूपको अविद्या काम कर्म ढके रहते हैं स्वरूपतः जीवात्मा ब्रह्मचैतन्य ही है। वह सबसे स्वतंत्र और सबका नियन्ता प्रभु है। वह स्वाधीन है, किसीके परतंत्र नहीं है सबका अधीश्वर है। सब पदार्थ उसके ही अधिष्ठानमें रह कर अपना २ कर्त्तव्य पूरा करते हैं। अनात्मविषयक वाक्योंका उच्चारण न करके इस ब्रह्म-ज्ञानके लिये शम दम आदिका और आत्मध्यान आदिका अनुष्ठान करना चाहिये। यह अन्तर्ज्योति विज्ञान-मय पुरुष भले या बुरे किसी कर्मसे वास्तवमें बद्ध नहीं होता है क्योंकि-कर्ममात्र इसकी ही शक्तिसे प्रवर्त्तित

होता है। यह सब भूतोंका अधिपति, पालक नियन्ता और पृथिवी आदि लोकोंका आश्रय है। जो इसप्रकार ब्रह्मके स्वरूपको जानते हैं वे भी स्वतंत्र हैं, सब कर्मोंसे मुक्त हैं। काम्य कर्मोंको छोड़कर अन्य नित्यकर्म आदि करते २ ऐसा ज्ञान उत्पन्न होजाता है। सब वर्ण और आश्रमवालोंको उपनिषद् आदिका अभ्यास करके इस को ही जानना चाहिये। सन्ध्यावन्दन आदि नित्यकर्म करनेसे चित्त शुद्ध होता है। शुद्ध हुए चित्तमें अनायास ही ब्रह्मज्ञानका उदय होजाता है। दान करना, तपस्या करना, रागद्वेषशून्य इन्द्रियोंसे विषयसेवन करना, द्रव्य-यज्ञ और ज्ञानयज्ञ, ये सब कर्म यदि निष्कामभावसे किये जायँ तो उनके द्वारा चित्तकी शुद्धि होकर ब्रह्मज्ञान को पानेकी इच्छा जागती है। ऐसी इच्छा होने पर ब्रह्मज्ञान प्राप्त हुआ कि-वह मुनि या जीवन्मुक्त होजाता है। ब्रह्मसे भिन्न देवताओंको जानते हुए कोई मुनि नहीं होसकता हां कर्मिष्ठ होसकता है, मुनि तो ब्रह्मको जानने पर ही होगा। इस कारण ऊपर कही रीतिसे ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना चाहिये। इस आत्मलोकके अभि-लाषियोंको किसी फलको पानेकी इच्छा न रखकर शास्त्र में अपने लिये बतायेहुए नित्यकर्मादिका अनुष्ठान करना चाहिये, कर्मसंन्यास नहीं किन्तु कर्मफलसंन्यास करना चाहिये।

इसलिये ही प्राचीन विद्वान् पुत्र, धन और लोक-सन्मानकी इच्छाको त्यागकर एकमात्र ब्रह्मस्वरूपको पानेकी ही कामना रखते थे। उनको संसारमें ब्रह्मके सिवाय और कोई पदार्थ प्रतीत ही नहीं होता था इस कारण वे एकमात्र ब्रह्मसाधनामें ही लगे रहते थे। उन

की सब कामनायें और सब कर्म ब्रह्मकामना और ब्रह्मार्थ कर्मके ही अन्तर्गत होते थे। ऐसी भावना और ऐसे कर्मोंसे ब्रह्मदर्शनका अभ्यास होकर अद्वैतज्ञान दृढ़ होजाने पर ब्रह्मार्थ-कर्म और कामना भी नहीं रहते थे। सब ही कुछ ब्रह्ममय होकर साधककी मुक्ति होजाती थी।

इस आत्माको कोई पकड़ वा बांध नहीं सकता, यह किसीसे लिप्त नहीं होता है, इस आत्माका क्षय वा उदय नहीं होता है, यह असङ्ग और भय-शोक शून्य है। जो इस आत्माके स्वरूप या महिमाके गुह्य तत्त्वको जान जाते हैं वे धर्म, अधर्म या कर्ममें कभी लिप्त नहीं हो सकते। साधक बाहरी इन्द्रियोंके व्यापारसे छुट्टी पा कर अन्तःकरणकी विषयलालसाको तिलाञ्जलि दे कर पुत्र धन आदिकी इच्छासे विरत हो जाते हैं। उस समय उनके अन्तःकरण और इन्द्रियोंका बाहरी विषयोंके साथ स्पन्दन बन्द होजाता है और वे ब्रह्मके साथ एकाग्रता पाजाते हैं, तब उनको शरीरके भीतर बुद्धिके साक्षि-स्वरूप आत्माका दर्शन होता है, सर्वत्र ब्रह्मस्वरूपका अनुभव होने लगता है। इसप्रकार ही ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

हे राजन्! इसप्रकार वास्तवमें ब्रह्मकी प्राप्ति होजाने पर ब्रह्मज्ञानी पुरुष पापके पार होजाते हैं, फिर उनको कोई पाप ताप नहीं दे सकता, क्योंकि—उस समय उनके चारों ओर ब्रह्मभाव-आत्मदर्शन भरता चलाजाता है, उस समय वे आत्मादर्शनरूप तेजसे पाप तापको भस्म कर डालते हैं, उनकी सब कामनायें कटजाती हैं और सब संशय विलीन होजाते हैं। यही सर्वोत्तमबोध है, यही आत्मलोक है।

महाराज! मेरे और तुम्हारे इस पांच दिनके संवादसे आत्माके जिस मुख्य स्वरूपका निर्णय हुआ है, वह ज्ञानस्वरूप, अलुप्तशक्तिस्वरूप और परमानन्दस्वरूप आत्मा ही प्राणियोंका कर्मफलदाता जन्मरहित और सबका अन्तर्यामी है। जो निरन्तर उसका ध्यान करते हैं, सब पदार्थोंके नियन्तारूपसे भावना करते हैं उनका परम कल्याण होता है। यह आत्मा अविनाशी, निर्विकार और सकाम कर्म मोह आदि मृत्युकी फाँसियोंके पार है, निर्भय है, इसको अविद्या नहीं छूसकती। जो सदा इसकी भावनामें मग्न रहते हैं और निरन्तर सर्वातीत रूपसे इसका ध्यान करते हैं वे भी निर्भय होजाते हैं

राजन्! जीवकी जन्म, मृत्यु, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अनेकों अवस्थाओंका अवलम्ब लेकर मैंने उस अद्वितीय ब्रह्मका वर्णन कर दिया। इस ब्रह्मविद्याको आप हृदयमें धारण करिये।

हमको अंतके तीन दिनोंके संवादसे ये उपदेश मिलतेहैं

(१)-आत्मज्ञान और आत्मशक्तिके द्वारा ही अन्तःकरणके भांति २ के विज्ञान और शरीर इन्द्रियादिकी भांति २ क्रियाओंका निर्वाह होता है।

(२)-भीतर और बाहरके सब पदार्थ आत्मज्योतिके प्रकाशसे ही प्रकाशित होते हैं।

(३)-आत्मज्योति शरीर और इन्द्रियोंसे स्वतन्त्र (पृथक्) है।

(४)-आत्मज्योति अन्तःकरणसे भी स्वतन्त्र है। बुद्धि और बुद्धिके विज्ञान आत्माके ज्ञेय हैं, आत्मा उनका ज्ञाता है अतः आत्मा बुद्धिसे भी स्वतन्त्र है।

(५)-जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थामें तथा एक शरीरको छोड़ दूसरा शरीर धारण करते समय इस आत्मज्योतिकी स्वतन्त्रतामें कुछ बाधा नहीं पड़ती।

(६)-यह आत्मज्योति सबसे परे है तथा सब क्रियायें और ज्ञान का मूल आधार है।

(७)-सुषुप्ति अवस्थाको आत्माकी स्वरूपावस्था प्राप्तिकी समान कह सकते हैं, क्योंकि-दोनों अवस्थाओंमें स्वतंत्र आत्मज्योति प्रकाशित होती है।

(८)-ब्रह्म वा आत्माके मुख्य स्वरूपका ज्ञान होजाने पर सर्वात्मभावकी प्राप्ति होती है। अविद्या ही सब पदार्थोंको ब्रह्मसे जुदा और स्वतंत्र पदार्थान्तरके रूपमें दिखाती है। अविद्याका नाश होने पर विद्याका उदय होता है और पदार्थन्तरका भेदज्ञानरूप दीपक बुझजाता है।

(९)-ब्रह्ममें कुछ भेद नहीं है, वह सदा एकरूप है, उसमें उपाधि के कारण भेद मानलिया गया है। उपाधिके द्वारा ब्रह्मका स्वपरूस्वरूप कुछ ही अंशमें क्रम २ से प्रकट होता है और उसका ज्ञान होते ही भेद बुद्धि दूर होजाती है।

(१०)-जो वास्तवमें ब्रह्मस्वरूपके ज्ञाता हैं, जिनकी भेदबुद्धि दूर होगयी है वे ब्रह्मके सिवाय किसी भी पदार्थकी कामना नहीं करते अतएव किसी-अन्य पदार्थके लिये कर्म भी नहीं करते, उनका सब कर्म ब्रह्मार्थ ही होता है।

(११)—ब्रह्मसे भिन्न पदार्थकी कामना करने पर वह पदार्थ ही मिलेगा, उस काम्यकर्मसे ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं होसकती। वैराग्य, ध्यान, सकल प्राणियोंके ऊपर दया और उपासना आदि नित्यकर्म यदि ब्रह्मको पानेके उद्देश्यसे किये जायँ तो वे ज्ञानकी उत्पत्तिमें सहायक होते हैं, इसलिये नित्यकर्म अवश्य करना चाहिये।

(१२)—इस प्रकार ब्रह्मस्वरूपकी प्राप्ति होजाने पर कर्म आदि ज्ञानरूप ही बनजाते हैं। उस समय अद्वैतज्ञान पूर्ण होजाता है-तथा कर्म आदि कुछ नहीं रहता, तब ही मुक्ति होती है।

समाप्त.